R.N.I. No. 2321/57
अप्रैल 2019

ओ३म्

रजि. सं. MTR नं. 004/2019-21
अंक 3

तपोभूमि

मासिक

पूज्यपाद आचार्य प्रेमभिक्षु जी
की 25 अप्रैल पुण्यतिथि पर
तपोभूमि परिवार की ओर से श्रद्धांजलि

सम्पादकीय

वैदिक संस्कृति के सच्चे उपासक थे आचार्य श्री प्रेमभिक्षु जी महाराज

प्रथम सन् 1982 में आर्यसमाज जयपुर हाउस आगरा में मैंने पूज्य आचार्य श्री के दर्शन किये। उनके आचरण और व्यवहार ने हमें अत्यधिक प्रभावित किया। यद्यपि वहाँ के उत्सव में अनेक वक्ता आये हुए थे। पर हमारे पर किसी भी वक्ता का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा। गुप्तजी ने ठीक ही लिखा है कि–

उपदेशकों की गलध्वनि बस कान तक बैठती।
अन्तः करण की बात ही अन्तः करण में बैठती।।

पूज्य आचार्य श्री के मुखारविन्द से निकला हुआ एक–एक शब्द मानो श्रद्धा और तपस्या से ओत–प्रोत था। मैंने धार्मिक प्रवचन में प्रथम बार राष्ट्रभक्ति का समावेश पाया अन्यथा प्रवचनों में कोरी व्यवहार शून्य भक्ति की बातों से हमारे मन में धार्मिक सत्संगों के प्रति उपेक्षाभाव हो गया था। जब आज आचार्य श्री को सुना तब ऐसा लगा सारा देश लोगों के भ्रमजाल में पड़ा है। अंधी लंगड़ी आस्तिका हमारे सर्वनाश का कारण बन रही है। चूंकि हमारा आर्यसमाज में प्रथम प्रवेश था। आचार्य जी के प्रवचन से उपासना, भक्ति, आस्तिकता, संस्कृति, सभ्यता जैसे शब्दों को ऐसा लगा बिल्कुल नये और यथार्थ रूप में हम जान रहे हैं व्याख्यान के बाद हमने आचार्य श्री से क्षणिक वार्तालाप किया। न जाने क्या हुआ? उनके अपार स्नेह से मैं ऐसा प्रभावित हुआ कि आजीवन उनके मिशन का सिपाही बनकर रह गया।

पूज्य आचार्य जी से परिचय होने के बाद निरन्तर सम्पर्क पत्राचार द्वारा रहा। उनके आग्रह पर मैं आश्रम आ गया लगभग 8 महीने मैं आश्रम पर रहा। मैंने अत्यन्त समीप रहकर देखा मैं उनके जीवन में एक क्षण भी ऐसा नहीं देखा कि जहाँ वे वैदिक उच्च आदर्शों से बाल बराबर विचलित हुए हों। वे जो कहते थे उसका अक्षरशः पालन करते थे वे वाग्वीर ही नहीं थे अपितु पक्के कर्मवीर थे। उनका हर क्षण निष्काम कर्म के प्रति समर्पित था। पारिवारिक परिस्थितियाँ जटिल से जटिल आयीं पर वे सदैव अडिग रहे। उनके कार्य में सर्वात्मना समर्पित उनके पुत्र श्री वेदप्रकाश सुमन का असामायिक निधन हो गया। मैं समझता हूँ कि एक पिता के लिए इससे बड़ा आघात कुछ भी नहीं हो सकता। पर इस पहाड़ जैसे दुःख

–शेष पृष्ठ सं. 35 पर

तपोभूमि

ओ३म् वयं जयेम (ऋक्०)

शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक कल्याण की साधिका

(आर्य जगत में सर्वाधिक लोकप्रिय मासिक)

वर्ष–65 संवत्सर 2076 अप्रैल 2019 अंक 3

संस्थापक
स्व0 आचार्य प्रेमभिक्षु

संपादकः
आचार्य स्वदेश
मोबा. 9456811519

अप्रैल 2019

सृष्टि संवत्
1960853120

दयानन्दाब्दः 195

प्रकाशक
सत्य प्रकाशन
आचार्य प्रेमभिक्षु मार्ग
मसानी चौराहा, मथुरा (उ0 प्र0)
पिन कोड–281003

दूरभाषः
0565–2406431
मोबा0 9759804182

अनुक्रमणिका

लेख–कविता		पृष्ठ संख्या
वेदवाणी	–डॉ0 रामनाथ वेदालंकार	4–5
भविष्यत् जानने की कोशिश से हानि	–बाबू सूरजभान	6
व्यावहारिक कार्यशीलता	–पं0 माधवराव	7–10
स्वास्थ्य चर्चा		11–12
उठो राष्ट्र प्रहरियो	–महात्मा चैतन्यमुनि	13
उपनिषद् और कर्तव्याकर्तव्य–विवेक	–डॉ0 सम्पूर्णानन्द	14–21
ऐतरेयब्राह्मण की एक सदाचार–कथा	– डॉ0 इन्द्रदेवसिंह आर्य	22–24
आर्यसमाज में सदाचार	–छाजूराम शर्मा	25–28
जीवन को सार्थक बनाएँ	–महात्मा चैतन्य स्वामी	29–30
आचरण ही श्रेष्ठता प्रदान करता है	–गोविन्दमुनि	31–33
पदमभूषण महाशय धर्मपालजी		33–34

❁❁❁

वार्षिक शुल्क 150/– पन्द्रह वर्ष के लिये शुल्क 1500/– रूपये

वेदवाणी

लेखकः डॉ० रामनाथ वेदालंकार

दुन्दुभि के घोष से शत्रु क्लान्त हों

दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा।
नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम्।। –अथर्व0 5। 20। 5

शब्दार्थ:–

(दुन्दुभे:) दुन्दुभि की (वदन्तीम्) बोलती हुई, गर्जती हुई (प्रयतां वाचम्) सतत वाणी को (आश्रृवण्वती) सुनती हुई (घोषबुद्धा) घोष से जागी हुई (नाथिता) पुत्र से याचना की हुई (आमित्री नारी) शत्रु की नारी (वधानां समरे भीता) शस्त्रास्त्रों के युद्ध में भयभीत हुई (पुत्रं हस्तगृह्य) पुत्र को हाथ से पकड़कर (धावतु) भाग खड़ी हो।

भावार्थ:–

वेद शान्ति के उपासक हैं। अभीष्ट तो यह है कि युद्ध की नौबत ही न आये। किन्तु शत्रु यदि युद्ध के लिए डटा हुआ है, हमारे राष्ट्र को भी वह युद्ध करने के लिए बाधित कर रहा है, तो युद्ध हो जाना ही श्रेयस्कर है। साम, दान, भेद के पश्चात् चौथा युद्ध राजनीतिज्ञों ने माना है। युद्ध की पूरी तैयारी कर लो, रक्षा–सेना नियुक्त कर लो, स्थल–सेना, जल–सेना, अन्तरिक्ष–सेना तैनात कर दो। रणबांकुरे साहसी योद्धाओं को रणभूमि में भेज दो। रणभूमि एक नहीं रहती, बदलती भी रहती है, जहाँ रणभूमि बने, वहीं बहादुर सैनिक शस्त्रास्त्रों से लैस होकर पहुँच जाएँ। वे मरने–मारने को तैयार हों। पुराने और नवीन आविष्कृत सभी शस्त्रास्त्रों का प्रयोग हो। योद्धाओं के विमान अन्तरिक्ष से बमवर्षा करें, जल–पोत और पनडुब्बियाँ समुद्र–मार्ग से अपना काम करें, स्थल से शत्रु की भूमि को जीतने के लिए टैंक, बुलडोजर आदि का प्रयोग हो।

प्रस्तुत मन्त्र दुन्दुभि के प्रयोग का है। दुन्दुभि ऐसी तीव्र ध्वनिसे बजे कि शत्रुओं के दिल दहल जाएँ। बादल–बिजली की गर्जना से भी अधिक उत्कट उसकी गर्जना हो। उसकी गर्जना से ही अनेक शत्रु–सैनिक मूर्छित हो जाएँ, अनेक योद्धा पछाड़ खाकर एक–दूसरे के ऊपर ही गिर कर प्राण त्याग दें। शत्रु–नारियाँ, जो महलों में सो रही हों, दुन्दुभियों के घोष से जाग जाएँ, उनके बच्चे डर के मारे उनसे चिपट जाएँ, उनके चेहरे माताओं से कहीं सुरक्षित स्थान पर चलने के लिए कह रहे हों। ऐसा लग रहा हो कि महल अब सुरक्षित नहीं हैं, बमों के प्रयोग से उनकी ईंट–ईंट बिखरनेवाली है, महलों के निवासी लाशों में परिवर्तित होनेवाले हैं। ऐसी विकट परिस्थिति में शत्रु की नारियाँ अपने पुत्रों का हाथ पकड़कर भाग

खड़ी हों। महल सूनसान हो जाएँ या खण्डहरों में बदल जाएँ।

शत्रु-नारियों की यह दुरवस्था करने का उत्तरदायित्व हमारे राष्ट्र का नहीं है। शत्रु-राष्ट्र ने ही युद्ध थोपा है, या हमारे द्वारा युद्ध थोपने की परिस्थिति पैदा की है, अतः शत्रुराष्ट्र ही दोषी है।

हमारे वीरों की जय, हमारे राष्ट्र की जय, दुन्दुभि की जय, शस्त्रास्त्रों की जय, सेनाध्यक्षों की जय, राजाधिराज की जय, राष्ट्रपति की जय, प्रजा की जय, जो हम से लड़ने आयेगा वह उल्टी पटकी खायेगा, वन्दे मातरम्। बलिदानी वीरों को श्रद्धाजंलि। ❁❁❁

तपोभूमि मासिक के पाठकों से विनम्र निवेदन

'तपोभूमि' मासिक पत्रिका प्रतिमाह आप तक पहुँच रही है। हमारा हर सम्भव प्रयास यही रहता है कि पत्रिका में उच्चकोटि के विद्वानों के सारगर्भित लेख प्रकाशित करके आर्यसमाज और महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के सिद्धान्तों के अनुसार प्रचार करते हुये यह पत्रिका जन-जन तक पहुँचे। ताकि वे इसका पूर्णतया लाभ प्राप्त कर सकें। लेकिन यह तभी सम्भव है जब आप सबका सहयोग हमें मिले।

'तपोभूमि' मासिक के पाठको से निवेदन है कि जिन्होंने अपना वार्षिक शुल्क चालू वर्ष या पिछले वर्ष का शुल्क अभी तक नहीं भेजा है। वे शीघ्रातिशीघ्र शुल्क भिजवाने की व्यवस्था करें। वार्षिक शुल्क 150/- एक सौ पचास रुपये तथा पन्द्रह वर्ष हेतु 1500/- एक हजार पाँच सौ रुपये भेजकर पत्रिका पढ़ने का लाभ उठायें।

हम आपको प्रति माह पत्रिका पहुँचाते रहेंगे। आपके सहयोग व हमारे परिश्रम से निरन्तरता बनी रहेगी और महर्षि दयानन्द सरस्वती जी व आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार जन-जन तक भी होता रहेगा।

हमें अपने ग्राहक महानुभावों से यही अपेक्षा है कि बिना विघ्न कार्य सुचारू रूप से चलता रहे। साथ ही यह भी प्रार्थना है कि आप अपने परिश्रम से नवीन ग्राहक बनवाने का सौभाग्य प्राप्त करें।

-धनराशि भेजने हेतु बैंक का नाम व पता एवं खाता संख्या-

इण्डियन ओवरसीज बैंक

शाखा युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि, जयसिंहपुरा, मथुरा

I F S C Code- IOBA 0001441

'सत्य प्रकाशन' खाता संख्या- 144101000002341

दान हेतु- 'श्री विरजानन्द ट्रस्ट' खाता संख्या- 144101000000351

पाठकों से विनम्र निवेदन

'तपोभूमि' मासिक पत्रिका के उन पाठकों से विनम्र निवेदन है जिन्होंने वर्ष **2017 का वार्षिक शुल्क** बार-बार के पत्र लेखन तथा फोन द्वारा सूचना देने के बाद भी अभी तक जमा नहीं कराया है वे वर्ष **2017** तथा **2018** का वार्षिक शुल्क अविलम्ब **'सत्य प्रकाशन'** वेदमन्दिर वृन्दावन मार्ग, मथुरा के कार्यालय को जमा करायें। अतः आपसे पुनः निवेदन है कि आप शीघ्रातिशीघ्र शुल्क भेजकर अपनी प्रत्येक माह की पत्रिका समयानुसार प्राप्त करते रहें। आशा और विश्वास है कि पाठकगण अविलम्ब शुल्क जमा करेंगे। जो महानुभाव ऑन लाइन द्वारा शुल्क जमा करते हैं वे फोन द्वारा सूचित अवश्य करें ताकि उनका शुल्क जमा किया जा सके। वे पाठकगण धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने समयानुसार वर्ष 2019 का शुल्क जमा किया है।

-व्यवस्थापक

भविष्यत् जानने की कोशिश से हानि

लेखकः बाबू सूरजभान

दुनिया के लोगों को भविष्यत् जानने की अर्थात् कल क्या होने वाला है, इस बात को मालूम करने की, बहुत अधिक अभिलाषा रहती है। इसी के जानने के लिए मनुष्यों ने ज्योतिष, रमल, सामुद्रिक, स्वदोरय, शकुन और फल आदि अनेक उपाय निकाले हैं। वे ज्योतिषियों और फकीरों से पूछते फिरते हैं, भूत-प्रेतों से जानना चाहते हैं और जब मन बहुत ज्यादा भटकने लगता है तब धरती पर लकीरें खींचकर उनको ऊनी या पूरी गिनकर आगामी होनहार जानने की कोशिश करते हैं। परन्तु एक बार की लकीरों से जब उनके मन को सन्तोष नहीं होता है, तब वे बारम्बार लकीरें खींचते हैं और कभी कुछ और कभी कुछ उत्तर पाते हैं, फिर भी उन पर से श्रद्धा नहीं हटाते हैं। जो आदमी उनको भविष्य बतला देने की आशा दिलाता हो-वह कैसा ही मूर्ख, विद्याहीन और चालाक क्यों न हो, वे उसके पीछे-पीछे फिरने लगते हैं और उसकी खूब खुशामद करते हैं। जो ज्योतिषी उनके मन की बात कह देता है। उसे वे खूब माल खिलाते हैं और जो कोई भविष्यत् की कोई भयानक बात सुनाकर उन्हें डरा देता है उसके तो वे गुलाम ही बन जाते हैं और उस विपत्ति से बचने के लिए जो कुछ वह कहता है वही करने लगते हैं।

यहाँ पर हम इतना ही कहना चाहते हैं कि यदि भविष्यत् की बात जानी जा सकती है, तो वह तभी जानी जा सकती है जब वह अमिट हो और किसी उपाय से बदली न जा सकती हो, अर्थात् जो कुछ होने वाला है वह सब अनादिकाल से ऐसा अटल रूप से बंधा बंधाया हो कि किसी भी कारण से बदला न जा सकता हो। ऐसी हालत में उसका पहले से जान लेना संभव हो सकता है-अन्यथा नहीं।

परन्तु ऐसी अटल बात यदि पहले से जानी भी जा सकती हो तो उसके जानने से फायदा तो कुछ भी नहीं है, हाँ नुकसान निस्संदेह बहुत है। क्योंकि एक तो भविष्यत की बातों को पूछते फिरने में द्रव्य और समय खर्च होता है जो बिलकुल व्यर्थ जाता है, दूसरे बतलाने की वाले भी सर्वज्ञ और केवल ज्ञानी नहीं होते हैं, बल्कि जिस विद्या के द्वारा वे ये बातें बतलाते हैं उसे विद्या के भी पूर्ण ज्ञाता नहीं होते हैं और इसीलिए कुछ का कुछ बतलाकर लोगों को व्यर्थ ही बहकाते रहते हैं। और यदि उनके मुंह से कोई भारी विपत्ति की संभावना सुन पाते हैं तो लोग व्यर्थ ही घबड़ा जाते हैं और यहाँ वहाँ भटकते फिरते हैं। मतलब यह है कि भविष्यत के झगड़े में पड़ने के बदले यदि वे अपने उद्यम और पुरुषार्थ में लगे रहें तो बहुत लाभ उठावें और अनेक चिन्ताओं से बचे रहें। भविष्यत की बात पूछनेवाले उद्यमहीन होकर भटकते फिरते हैं और नुकसान उठाते हैं। इसलिए जिस देश में भविष्यत जानने की इच्छा बलवती हो जाती है वह देश गारत हो जाता है और जब तक यह चर्चा बनी रहती है तब तक हर्गिज नहीं पनपने पाता है। अतएव भविष्यत के जानने की इच्छा न करके अपने उद्यम में लगे रहना ही लाभकारी है। ❁

व्यावहारिक कार्यशीलता

लेखकः पं० माधवराव

इस लेख में जीवनसंग्राम में विजय-प्राप्ति के कुछ उपाय बतलाये गये हैं और समय-समय पर उनकी आवश्यकता तथा उपादेयता भी बतलाई गई है। परन्तु जिस तरह बहुत से राजाओं में एक महाराजा होता है, उसी तरह जीवनसंग्राम में विजय-प्राप्ति करा देने वाले उपायों में व्यावहारिक बुद्धि का स्थान है। केवल एक इसी वस्तु के अभाव में मनुष्य का सारा बना बनाया खेल बिगड़ सकता है। जब कोई मनुष्य अपने जीवनसंग्राम के लिए अनेक उपयोगी साधनों की अनुकूलता प्राप्त कर चुकने पर भी, अपनी जीवनयात्रा के किसी व्यवहार अथवा कार्य में असफल हो जाता है, तब समझना चाहिए कि उसका अधिकांश कारण इसी गुण का अभाव है। अतएव जिसे अपने मानव-जीवन को सफल और कृतार्थ करना है, उसे चाहिए कि वह अपनी व्यावहारिक बुद्धि की अधिकाधिक वृद्धि करने में सदैव तत्पर रहे।

व्यवहार-कुशलता को, अर्थात् सांसारिक व्यवहारों को सरलता और सुगमता से चलाने के ज्ञान को, व्यावहारिक बुद्धि कहते हैं। यह बुद्धि सांसारिक बातों और व्यवहारों के ज्ञान और कार्य-साधन की उत्तम रीतियों का मिश्रण है। व्यावहारिक बुद्धि में और जुबानी बातों में बड़ा अन्तर है। बहुत से मनुष्य दूसरों को उत्तमोत्तम और सामयिक उपदेश देने में बड़े कुशल होते हैं। वे लोग उपदेश भी ऐसा देते हैं जिससे दूसरों का काम अनेक बाधाओं के रहने पर भी अवश्य बन जाय। परन्तु वे स्वयं अपने उपदेश के अनुसार कार्य करने की शक्ति नहीं रखते। वे केवल सिद्धान्ती होते हैं कार्यशील नहीं। इसी तरह यह भी देखा जाता है कि कार्यशील और व्यवहारकुशल आदमियों में से शक्ति बहुत कम होती है, परन्तु ये ही मनुष्य जीवनसंग्राम में विजयी होते हैं। क्योंकि यह संसार कार्य और व्यवहारों के लिए बनाया गया है न कि अकर्मण्यता और उदासीनता के लिए। कहीं कहीं तो यह भी प्रत्यक्ष देखने में आता है, कि प्रखर बुद्धि और अन्य बौद्धिक गुणों का होना सांसारिक उन्नति और सफलताओं के लिए बाधा का कारण हो जाता है। इसीलिए अन्त में यह कहना पड़ता है कि पाठशालाओं की ओर कालेजों की शिक्षा चाहे कैसी भी उच्च क्यों न हो, जब तक वह व्यवहारिक और वैज्ञानिक स्वरूप में नहीं है तब तक वह कौड़ी के काम की नहीं।

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की ओर ध्यान देने से बड़ा आश्चर्य और दुःख होता है कि भारतवर्ष के शिक्षा-विभाग में व्यावहारिक शिक्षा का उचित प्रबन्ध क्यों नहीं किया। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि हमारे आधुनिक शिक्षित भाई सांसारिक व्यवहारों में, अन्य देशवासियों की अपेक्षा कितने पिछड़े हुए हैं। आप किसी भी अंग्रेजी प्रवेशिका के विद्यार्थी के पास जाइए, वह आपको यह अच्छी तरह समझा देगा कि उष्णतामापक यंत्र किस बनाया जाता है। परन्तु शोक की बात है कि आप किसी साइन्स के ग्रेजुएट के पास जाइए और उसको सब

आवश्यक सामान दे दीजिए, तो भी वह उस यंत्र को नहीं बना सकता। यदि वह अपनी बी. एस. सी. की डिग्री की इज्जत बचाने के लिए उस यंत्र को बनाने का प्रयत्न करेगा भी तो उससे घोड़ा बनाते बनाते गधा ही बन जायगा। परन्तु यह उस बेचारे विद्यार्थी का दोष नहीं है। यह दोष है उस शिक्षा का, जिसने उस विद्यार्थी को केवल इतना ही सिखलाया है कि 'कठिन' मानी 'मुश्किल' और 'मुश्किल' मानी 'कठिन' !! इतना ही नहीं, इससे कुछ और भी अधिक हानि होती है। इस रटन्त-कारखाने से जो थोड़ी बहुत बुद्धि खरीदी जाती है उसके मूल्य रूप में अपनी नैतिक शक्तियों को दे देना पड़ता है। इन्हीं सब बातों को देखकर यदि कोई सच्चा समालोचक कह बैठता है कि आजकल के अधिकांश 'पढ़े लिखे' कहानेवाले मनुष्य घर में बैठे-बैठे 'केवल नये-नये सिद्धान्तों की पुड़ियों का पार्सल' किया करते हैं, तो हमें सुनकर नाराज नहीं हो जाना चाहिए। बात बिलकुल सच्ची है। उनका मन उच्च शिक्षा के प्रभाव से उतना चिकना हो जाता है कि उसमें 'सांसारिक घर्षण' कहीं भी नहीं हो पाता। आजकल के बहुतेरे शिक्षित युवक, बहुत समय तक कालेजों में रहने के कारण, मनुष्य-जीवन के मुख्य ध्येय को भूल जाते हैं। मनुष्य-जीवन का मुख्य ध्येय 'कुछ करना' अथवा 'कुछ होना' है, न कि दूसरों की कही हुई बातों का मरण-पर्यन्त पिष्टपेषण करते रहना। ऐसी शिक्षा किस काम की, जो हमारी कार्यकारिणी शक्तियों को बढ़ाने और उत्तेजित करने के बदले उसमें पक्षाघात की बीमारी पैदा करे।

अब हम यह भी देखते हैं कि बहुत से युवक, जो जीवनसंग्राम में अपार ज्ञान का 'बोझ लादे बिना' प्रवेश करते हैं, अपनी व्यावहारिक बुद्धि के कारण अपने सांसारिक कार्यों में सफलता प्राप्त करते चले जाते हैं। इनको कोई शिक्षित मनुष्य अपनी भाषा में 'अपढ़' अथवा अर्धशिक्षित भले ही कहे, परन्तु ये तुच्छ मनुष्य ही अपने साहस, कौतुक और कार्यसंलग्नता के कारण सैकड़ों एकान्तवासी ढोंगियों को संसार क्षेत्र में नीचा दिखाते रहते हैं। इनको अपनी अज्ञानता और त्रुटियां मालूम रहती हैं, ये फूंक-फूंककर पैर रखते हैं और इन्हें अपने चलने पर पूरा विश्वास भी रहता है। ये थोड़ा-थोड़ा ही चलते हैं और आशा के साथ चलते हैं, इसलिए उद्दिष्ट स्थान पर कभी न कभी पहुंच भी जाते हैं। परन्तु अतिशिक्षित मनुष्य अपनी अधिकता के नशे में चूर रहता है। स्मरण रहे कि संसार के महापुरुषों में कुछ इने गिने मनुष्यों के सिवा प्रायः सब वही हैं जो कम बुद्धिवाले, दीर्घसूत्री, सतत परिश्रमी और धैर्यवान थे, तथा जो अपनी और दूसरों की गलतियों से कुछ नया पाठ सीखना जानते थे।

सम्भव है, हमारी इन बातों से वाचकों को यह भ्रम हो जाय कि हम मानसिक उन्नति और वर्तमान शिक्षा की व्यर्थ अयोग्यता बतला रहे हैं और उसकी अवहेलना करने का उपदेश दे रहे हैं। पर यथार्थ बात ऐसी नहीं है। मानसिक और बौद्धिक शिक्षा अवश्य ही अमूल्य है। परन्तु जिस तरह आम को बिना खाये, रखने रहने से, उसका स्वाद नहीं मालूम होता, उसी तरह शिक्षा और ज्ञान का, व्यावहारिक हुए बिना, कुछ उपयोग नहीं है। पठन-पाठन और वाचन का ज्ञान, चाहे वह कितना भी अधिक क्यों न हो, आखिर पुस्तक में ही रह जायगा। जो ज्ञान हमें जीवन की प्रत्यक्ष बातों से अनुभव द्वारा मिलता है, वही सच्चा ज्ञान है। छटांक भर ऐसा भान सेर भर पंडताई से बहुत अच्छा समझा जाता है। संसार में जो बड़े-बड़े विख्यात पुरुष हो गये हैं वे अधिक पढ़े लिखे नहीं थे। पहले जमाने में इतनी क़िताबें ही न थीं। आजकल की लाखों करोड़ों पुस्तकों की जगह उस जमाने में

एकाध पुस्तक मुश्किल से मिलती थी। परन्तु किताब पढ़े बिना ही पूर्वयुग के मनुष्य एक से एक बढ़कर गुणवान और कार्यशील हो गये हैं। जिस मनुष्य ने अपनी बुद्धि के छोटे-से नमूने के स्वरूप में संसार को रेलगाड़ी बनाना सिखलाया है वह लिखा पढ़ा नहीं था। तात्पर्य यह है कि संस्कृत, अरबी, फारसी, अथवा ग्रीक, लेटिन और अंग्रेजी या अन्य भाषाओं के व्याकरण में वाक्यों का जन्म भर विन्यास करते रहने से ही कुछ साहस और कार्यशीलता की वृद्धि नहीं हो जाती। इसी तरह मौलिकता तथा नूतनता तर्कशास्त्र के हजारों पृष्ठों को पढ़ने से भी नहीं आती। ये सब बातें प्रत्यक्ष व्यवहार से नहीं मिल सकतीं। ये रटन्त-शिक्षा के फलस्वरूप में कभी नहीं मिल सकतीं। हम इस मानवी-जीवन की घुड़दौड़ में रोज देखा करते हैं कि कोई 'अंग्रेजी पढ़ा हुआ मनुष्य तेल बेचा करता है' और काई निरक्षर भट्टाचार्य, जिसको अपने नाम के हिज्जे तक करना नहीं आता, अपने सभी सांसारिक कार्यों में सफलता प्राप्त करके सुखी होता है। कहीं-कहीं ऐसा भी देखा गया है कि जो मनुष्य राज्य शब्द की परिभाषा तक नहीं जानता उसने एक बृहत् राज्य का संचालन करके उसकी तुष्टि और पुष्टि से पूर्ण बना दिया है इन सब बातों का कारण ढूंढ़ा जाय तो मालूम होगा कि इन मनुष्यों के पास यद्यपि यूनीवर्सिटी का कोई सर्टिफिकेट नहीं था, तथापि ये इस जीते जागते संसार की व्यावहारिक शालाओं में पढ़े थे। इन लोगों ने इस कार्यमय जगत् की शिक्षाओं और उपदेशों को ध्यानपूर्वक सुना और समझा था, इन्हीं लोगों को हम सच्चे कार्यकुशल और व्यवहार-निपुण कह सकते हैं। आजकल की उत्तम कहलाने वाली पुस्तकीय शिक्षापद्धति में यह सामर्थ्य नहीं है।

अनुभव से मालूम होता है कि सांसारिक सफलताओं के लिए मन को सभी बातों के स्वल्प संग्रह का अजायबघर बना लेने की अपेक्षा उसको अच्छा संस्कार पूर्ण कार्यालय बना देना कहीं बढ़ चढ़कर है। विख्यात अंग्रेज ग्रन्थकार बेकन का कथन है कि "पुस्तकें, पुस्तकों का उपयोग करना नहीं सिखला सकतीं।" पुस्तकों का उपयोग हमें अपने चारों ओर का जीवित और व्यावहारिक संसार ही सिखला सकता है। आदर्श जीवनचरित का लिखना सहज है, परन्तु आदर्शजीवन का मनुष्य बनना बहुत कठिन है। इसी तरह यह भी संभव है कि बिना किताबों के पढ़े ही कोई सुसंगठित् मन का मनुष्य संसार के लिए महान् से महान् कार्य कर डाले।

मनुष्य चाहे कैसा भी प्रतिभाशाली क्यों न हो, परन्तु जब तक उसे कुछ व्यवहार ज्ञान और कार्यसाधन की रीतियों का ज्ञान नहीं है, तब तक वह सफल मनोरथ भी नहीं हो सकता। हाँ, यह बात सच है कि वह उन बातों की लाभहानि को बहुत ही जल्दी समझ लेगा जिनको समझने के लिए किसी साधारण मनुष्य को बहुत समय लगेगा। उदाहरणार्थ, गृद्ध पक्षी अपने शिकार पर दौड़ते हुए, आवाज के साथ झपटता है और उसे थोड़े से प्रयत्न से पा भी जाता है, परन्तु बिल्ली अपने शिकार के लिए ऐसा नहीं कर सकती, उसे उसके पास छिप-छिपकर, दबे पैर धैर्य के साथ जाना पड़ता है। चाहे कोई मनुष्य कैसा ही पण्डित क्यों न हो उस का सांसारिक काम व्यवहारकुशलता के बिना नहीं चल सकता। कहने का तात्पर्य यही है कि सांसारिक कामों में व्यवहारकुशलता ही सफलताओं की कुंजी है, क्योंकि यह ईश्वर की संचालन-शक्ति का एक अंश है। जो मनुष्य आज तक किसी न किसी प्रकार प्रतिष्ठित हुए हैं, उनमें सब विचारशील रहे हों अथवा नहीं, परन्तु वे सब कार्यशील और व्यवहार-कुशल अवश्य थे। व्यवहारकुशलता कई बातों में पाई जाती है। जैसे अपने आसपास क्या हो रहा है उसे हम खुली

आंखों से देखें, हम अपनी दशाओं और परिस्थितियों के अनुकूल बन जाय, सहानुभूति और सुहृदयता दिखलाने और पाने की योग्यता प्राप्त कर लें, उचित बात को उचित समय में उचित शब्दों में ही कहें, समय और विश्व की गति के साथ चलना सीखें, इत्यादि। संसार में सफलता पाने के लिए केवल योग्य और उचित कार्य के कर देने से ही काम नहीं चलता, किन्तु उचित समय और उचित स्थान का भी पूरा-पूरा ध्यान होना चाहिए। बहुत से ऐसे व्यवहार ज्ञान शून्य मनुष्य होते हैं जो कार्य सम्पादन करते समय दूसरी सीढ़ी पर पहले चढ़कर फिर पहली सीढ़ी पर पैर रखते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसका फल क्या होना चाहिए। प्रायः मनुष्य में बुद्धि की कमी नहीं रहती। यदि किसी वस्तु का अभाव रहता है तो काम करने के तरीकों के ज्ञान का। परन्तु यदि बुद्धि के द्वारा मनुष्य एक काम कर सकता है तो तरीकों के ज्ञान के द्वारा उसके दस काम बड़ी सरलता से हो सकते हैं। साधारण बुद्धि में और कार्यसाधन के तरीकों के ज्ञान में जमीन-आसमान का अन्तर है। तरीकों का जानने वाला अपढ़ दुकानदार मितव्ययता की शिक्षा देनेवाले कालेज के प्रोफेसरों से अधिक धन बचा लेता है। व्यवहार-ज्ञान वह पारस का पत्थर है जिसके प्राप्त करने से धनलोलुप मनुष्य सुवर्ण का ढेर पा सकता है और सांसारिक कार्यों के क्षेत्र में काम करने वाला सफल मनोरथ हो सकता है। सारांश यह है कि सांसारिक सफलताओं के लिए व्यवहार कुशलता का होना अत्यावश्यक है। इसके विपरीत बड़े-बड़े लेखक और कवि तथा उपदेशक ऐसे हो गये हैं जो अपने ही कथन का आचरण स्वयं नहीं कर सके। वे दूसरों को बारीक से बारीक बातें सिखला सकते थे। परन्तु कब तक? जब तक उनका एकान्तवास छोड़कर बाहर, मनुष्यों की भीड़ में आते ही, उनकी बुद्धि हवा में मिल जाती थी। इसके बहुत से उदाहरण हैं। आडम स्मिथ ने समस्त यूरोप को मितव्ययिता का प्रबन्ध नहीं कर सकता था। अंग्रेज कवि गोल्ड स्मिथ ने धनसंग्रह करने की आवश्यकता और ऋण की आपत्तियों पर बहुत कुछ लिखा है, परन्तु अच्छी आमदनी होने पर भी वह ऐसे स्वभाव का था कि दूसरों के लिए कुछ लेख, कविता आदि लिखे बिना उसको रोटी खाने को नहीं मिलती थी।

ऊपर हम जिस व्यवहार-कुशलता का संसार में काम करने के ढंग का और संसार में चल सकने के ज्ञान का वर्णन कर चुके हैं वह जीवन-संग्राम में सफलता-प्राप्ति के लिए कारणीभूत तो अवश्य है, परन्तु वह कुछ सफलता प्राप्त करा देने का ठेकेदार नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि उसके अभाव में सफलता कभी नहीं मिल सकती, क्योंकि सांसारिक सफलता को प्राप्ति के लिए सांसारिक व्यवहारों के ज्ञान की उतनी ही आवश्यकता है। जितनी पुस्तक पढ़ने के समय आंख खोलने की। व्यवहार-ज्ञान-रहित मनुष्य सदैव ऊटपटांग कार्य करता रहेगा। ऋण चुकाने में वह सदा कुछ न कुछ बकाया ही रखेगा, बड़ों को चिट्ठी लिखने में वह उद्दण्डता दिखलायेगा। छोटों के लिए घृणा-सूचक शब्दों का उपयोग करेगा। उसको सोने के समय खाने की सूझेगी और दुःख के समय दिल्लगी करना पसन्द होगा। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि असाधारण बुद्धिवाले मनुष्य भी बहुधा व्यवहार-ज्ञान-शून्य रहा करते हैं। लोगों को इस बात का आश्चर्य होता है कि जो मनुष्य पुस्तकों, लेखों और उपदेशों के द्वारा दूसरों को उचित मार्ग बतला सकता है वह बुद्धिमान् मनुष्य अपने आवश्यक कार्यों के साधन में कैसे चूक जाता है। परन्तु इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। गम्भीर मननशक्ति और विचार शक्ति में जिन्हें

–शेष पृष्ठ सं. 12 पर

गतांक से आगे-

स्वास्थ्य चर्चा

बहरापन

1. असली हींग को स्त्री के दूध में घिसकर कानों में डालना चाहिए।

2. गाय के मूत्र में जरा-सा सेंधा नमक घोलकर ताजा-ताजा डालें। सात दिन के प्रयोग से बहरापन दूर होने लगता है।

3. आक का पका हुआ पीला पत्ता लेकर इसे कपड़े से साफ करें। फिर उस पर सरसों का तेल चुपड़कर अग्नि पर गर्म कर किसी बर्तन में निचोड़ लें। इस अर्क की 2-4 बूंद प्रातः सायं कान में डालते रहने से कुछ दिनों में बहरापन जाता रहेगा।

4. करेले के बीज और काला जीरा, दोनों को समभाग लेकर और पानी में बारीक पीस-छानकर कान में डालने से बहरापन दूर हो जाता है।

5. कलमी शोरा 60 ग्राम, नौशादर 10 ग्राम, फिटकरी सफेद की भस्म 15 ग्राम, सरसों का तेल 250 ग्राम। सब वस्तुओं को तेल में पका लें। फिर छानकर शीशी में सुरक्षित रखें। प्रतिदिन 2-4 बूंद कानों में डालने से बहरापन नष्ट हो जाता है।

6. शंख में पानी भरकर रात-भर रखा रहने दें। प्रातः उसे पी लें, साथ ही शंखध्वनि खूब सुनें।

7. आड़ू की गुठलियों का तेल कान में डालते रहने से बहरापन दूर हो जाता है।

8. मूली का रस, सरसों का तेल और शहद, तीनों बराबर लें और घोलकर शीशी में भर लें। प्रातः सायं दो समय 5-5 बूंद कानों में 4-5 दिन तक डालें सुनाई देने लगेगा।

9. बड़ी बछिया का 1॥ किलो पेशाब लेकर उसको कड़ाही में औटाएँ, जब 250 ग्राम रह जाए तब उतार लें, ठण्डा होने पर शीशी में भर लें। प्रतिदिन दो-तीन बूंद कान में डालने से बहरापन दूर होता है।

10. ऊँट का मूत्र गुनगुना कर कान में डालने से बहरापन दूर होता है।

बहुमूत्र

1. मिश्री 40 ग्राम, मुलहठी 30 ग्राम, कालीमिर्च 20 ग्राम, सबको कूट-पीसकर चूर्ण बना लें। 4 ग्राम दवा गोघृत में मिलाकर दिन में दो बार चाटें।

2. रूमी मस्तगी, दालचीनी, शक्कर तीनों समभाग लेकर चूर्ण कर लें। 3 ग्राम दवा प्रातः सायं गर्म जल से दें। एक सप्ताह में रोग मिट जाएगा।

3. काले तिल, पुराना गुड़ दोनों को समभाग लेकर कूट लें और 1-1 ग्राम की गोलियाँ बना लें। दिन में तीन बार एक-एक गोली दें।

4. खसखस के दाने 20 ग्राम, गुड़ 20 ग्राम, दोनों को कूट-पीस लें। 1-1 ग्राम दवा प्रातः सायं जल के साथ लें।

5. इमली के बीज 10 ग्राम प्रातः पानी में भिगो दें। रात्रि में छिलका उतारकर भीतरी सफेद मींगी का सेवन करें, ऊपर से गोदुग्ध पीएँ।

6. त्रिफला का किलो लेकर कूट लें, फिर आठ किलो पानी डालकर क्वाथ बनाएँ। जब दो किलो पानी रह जाए तब पात्र को अग्नि से उतारकर ठण्डा होने पर स्वच्छ वस्त्र से छान लें। अब इस छने हुए पानी को कड़ाही में डालकर मन्द-मन्द अग्नि से घनक्रिया करें। जब गोली बांधने योग्य हो जाए तब दो-दो ग्रेन की गोलियां बना लें। रोगी को 4-4 गोली प्रातः सायं खिला दें। जो बच्चे शैया पर पेशाब कर देते हैं उन्हें दो-दो गोली प्रातः सायं खिलाएँ। रोग समूल नष्ट हो जाएगा।

7. तिल काले 40 ग्राम, अजवायन 20 ग्राम दोनों को बारीक पीसकर 60 ग्राम गुड़ में मिला लें। 6-6 ग्राम प्रातः सायं खाने से बहुमूत्र का रोग दूर हो जाता है।

नोट– जिन बच्चों का रात्रि में बिस्तर पर पेशाब निकल जाता हो उनके लिए भी लाभदायक है।

8. रीठे की गुठली का चूर्ण आधा ग्राम प्रातः और आधा ग्राम सायं दोनों समय ताजा पानी के साथ लेने से बहुमूत्र रोग एक सप्ताह में ठीक हो जाता है।

9. तिल काले 5 ग्राम, मिश्री 5 ग्राम और नौशादर 4 ग्रेन, यह एक खुराक है। तीनों को कूट-पीसकर प्रातः सायं 2-3 माह तक सेवन करें। बहुमूत्र जाता रहेगा।

बाम

सतपोदीना (पीपरमेंट) 10 ग्राम, कपूर 3 ग्राम, दालचीनी का तेल 3 ग्राम, इलायची का तेल 1 ग्राम, लौंग का तेल 1॥ ग्राम। पीपरमेंट व कपूर दोनों को घोटकर 15 ग्राम वैसलीन में मिला लें, फिर अन्य दवाएँ भी इसमें मिला लें, यह ओषधि हर प्रकार के दर्द में काम देती है।

–(शेष अगले अंक में)

पृष्ठ सं. 10 का शेष–

मानसिक गुणों की आवश्यकता होती है, व्यवहार-ज्ञान में ठीक उनके विपरीत गुणों की आवश्यकता होती है।

ऊपर कहीं-कहीं कहा गया है कि ग्रन्थों से प्राप्त होने वाला ज्ञान सांसारिक सफलताओं के लिए उतना आवश्यक नहीं है जितना कि संसार के व्यावहारिक कार्यों के करने का तरीका अथवा व्यवहार कुशलता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ग्रन्थ अनुपयोगी वस्तुएँ हैं। नहीं, बात यह है कि अधिक वाचन करने वाला मनुष्य अधिक मनन, चिंतन और विचार करने में अपने समय को वृथा सिद्धान्तवाद में ही नष्ट कर देता है और अमुक कल्पित कठिनाइयों के कारण कार्यारम्भ ही नहीं करता। उसकी जीवनयात्रा सिद्धान्त-रचना में ही समाप्त हो जाती है। इसलिए ग्रन्थजन्य ज्ञान के साथ व्यावहारिक कुशलता का होना अत्यावश्यक है। एक दूसरे का पोषक तो अवश्य है, परन्तु एक के होने से दूसरा भी अवश्य मौजूद होगा-यह नहीं कहा जा सकता। अतएव अपने मानवी जीवन की सार्थकता तथा सफलता के लिए दोनों गुणों को प्राप्त करना चाहिए। ❁❁❁

उठो राष्ट्र प्रहरियो

रचयिताः महात्मा चैतन्यमुनि, महादेव, सुन्दरनगर (हि० प्र०)

समस्त दिशाएं विक्षिप्त हैं,
स्थितियां बड़ी विचित्र हैं।

सुलग रहा विहान है,
धरा लहूलुहान है।
मृत्यु दीर्घजीवी पर–
जीवन आयु संक्षिप्त है।
स्थितियां बड़ी विचित्र है।

स्वप्न ध्वस्त हो गए,
सौभाग्य अस्त हो गए।
षडयन्त्रों के जंगलों में–
हवा तक संलिप्त है।
स्थितियां बड़ी विचित्र है।

देवत्व वनवासी हुए,
दुरित अधिवासी हुए।
सुसंकल्प गरल पीकर–
चिरनिद्रा में तृप्त है।
स्थितियां बड़ी विचित्र है।

उठो राष्ट्र प्रहरियो,
ग्रामीणों व शहरियो।
गली–गली आवाज दो–
यहां डगर–डगर सुप्त है।
स्थितियां बड़ी विचित्र है।

आर्यत्व ओज गुंजार दो,
गाण्डीव को टंकार दो।
चहुंमुखी शत्रुनाश का–
यही समय उपयुक्त है।
स्थितियां बड़ी विचित्र है।

आंसुओं को उल्लास दो,
अन्धेरों को उज्जास दो।
आंख दो अरे आंख दो–
एक राष्ट्र भाव लुप्त है।
स्थितियां बड़ी विचित्र है। ❁

उपनिषद् और कर्तव्याकर्तव्य-विवेक

लेखकः डॉ० सम्पूर्णानन्द जी

भारतीय दर्शन के पाश्चात्य आलोचकों ने इस बात की ओर बराबर ध्यान आकृष्ट किया है कि उन विचार-शास्त्रों में, जो वेदमूलक हैं, कर्ताव्याकर्तव्य की विवेचना नहीं की गयी है। इस दृष्टि से भारतीय होते हुए भी बौद्धदर्शन की परम्परा भिन्न है। उसमें जिस मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया गया है, वह यूरोपीय विचारकों को स्वभावतः अपनी ओर खींचता है। उनको उसमें चरित्रनिर्माण और समाज-संव्यूहन का वह बीजक मिलता है, जिसके सहारे आज के परितप्त जगत् को शान्ति दी जा सकती है। जिस समय बुद्धदेव भारतीय जगत् में अवतरित हुए थे, उन दिनों सद्धर्म का एक प्रकार से लोप हो गया था। सहस्र-संख्यक निरीह पशुओं के आलभन और तामस तप से समाज का आत्मा क्षुब्ध हो उठा था। इसकी ही प्रतिक्रिया के स्वरूप में मध्यम मार्ग की प्रतिष्ठा लोकसम्मत हुई। उस प्रारम्भिक काल में न तो ऐसे मन्दिर थे, न किन्हीं देव-देवियों की पूजा होती थी। इसलिये भी मध्यम मार्ग के उपदेशकों को प्रश्रय मिला। बाद में उसका नाममात्र अवशिष्ट रह गया; क्योंकि महायान सम्प्रदाय ने आध्यात्मिक जगत् में इतने बुद्धों, बोधिसत्त्वों, देवों और देवियों को ला बिठाया था कि किसी को मध्यम मार्ग पर चलने का कष्ट करने की आवश्यकता ही नहीं रह गयी।

इसके विपरीत यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैदिक विचारधारा में चरित्रशुद्धि और कृत्याकृत्यविवेक को कभी भी महत्व का स्थान नहीं दिया गया। पूर्वमीमांसा कर्मशास्त्र तो है, परन्तु उसको भी पाश्चात्य ईथिक्स-विषयक ग्रन्थों की भांति कर्तव्यशास्त्र नहीं कह सकते। 'कर्तव्य' और 'धर्म' शब्दों को समानार्थक मान लेने पर भी काम नहीं चलता। जैमिनि के अनुसार 'चोदनालक्षणोऽर्थः धर्मः' इसके आगे वह कहते हैं, 'वचनादाम्नायस्थप्रामाण्यम्' इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिसकी चोदना, घोषणा, विधि वेद में की गयी हो, वह धर्म है। इसी में वेद की प्रामाणिकता है। यह परिभाषा चाहे व्यवहारदृष्टि से उपयोगी भी हो परन्तु दार्शनिक दृष्टि से सन्तोषजनक नहीं है। जिन कामों को वेद ने वैध ठहराया है, उनके सम्बन्ध में यह प्रश्न बराबर हो सकता है कि उनको क्यों किया जाय। भले ही वेद अपौरुषेय हों, ईश्वरकृत हों, परन्तु ईश्वर की आज्ञा क्यों मानी जाय? यह हो सकता है कि ईश्वर में निग्रहानुग्रह की शक्ति हो; परन्तु पुरस्कार की आशा या दण्ड के भय से किया गया काम वस्तुतः उत्कृष्ट नहीं होता। लोक में भी ऐसे काम प्रशस्त नहीं माने जाते। कर्मविशेष की करणीयता या अकरणीयता का निर्णय उसके स्वरूप में आधार पर होना चाहिये न कि कर्ता के अतिरिक्त किसी शक्तिशाली व्यक्ति की इच्छा पर। कणाद ने इससे अच्छी परिभाषा की है। वे कहते हैं-**'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'**

'जिस कर्म से अभयुदय-इहलोक और परलोक में कल्याण और मोक्ष की सिद्धि हो, वह धर्म है।' इससे धर्माचरण के परिंणाम का परिचय तो मिलता है; परन्तु परखने की कसौटी नहीं दी गयी। बाद के विद्वानों ने तो इतना भी विचार नहीं किया है। जगत् सम्बन्धी अनेक सूक्ष्म और स्थूल प्रश्नों की समीक्षा की गयी; परन्तु कर्म के सम्वन्ध में केवल इतना ही कह दिया जाता था कि जो आचरण वेदविहित है, वह करणीय है और जो निषिद्ध है

वह अकरणीय है। यदि किसी विद्वान् को किसी ऐसे कृत्य के विषय में व्यवस्था देनी होती थी जिसका स्पष्ट उल्लेख श्रुति में नहीं मिलता तो वह इसी बात का प्रयत्न करता था कि उसको स्वरूप–साम्य के आधार पर वेद में दी हुई किसी–न–किसी कर्मसूची में बिठा दें। इसको स्वतन्त्र विचार नहीं कह सकते।

ऐसी आलोचना का प्रभाव भारतीयों पर पड़ना स्वाभाविक है। आलोचना का उत्तर देने की सामग्री भी उसके पास नहीं थी। विदेशी शासन के प्रभाव ने उनके आत्मविश्वास को लुप्तप्राय कर दिया था। अत: जिस किसी वस्तु की शिकायत विदेशी करते थे, वह उनकी आंखों में भी खटकने लगती थी।

यह बिल्कुल ठीक है कि भारतीय दर्शन में सत्कर्म मीमांसा को वह स्थान नहीं दिया गया है जो उसे पश्चिम में प्राप्त है; परन्तु इसमें लज्जित होने की कोई बात नहीं। यहूदी, ईसाई और इस्लाम–धर्म एकेश्वरवादी ही नहीं, प्रत्युत एकोपास्यवादी हैं। ईश्वर जगत् का स्रष्टा, पालक और संहर्ता है। जगत् उसकी इच्छा की अभिव्यक्ति, उसकी लीला है। वह सर्वथा 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' समर्थ है। किसी और की उपासना उसके लिये असह्य है। उसने मूसा से स्वयं कहा था कि 'मैं तेरा ईश्वर ईर्ष्यालु हूँ।' वह और सब अपराधों को क्षमा कर सकता है; परन्तु शिर्कऔर इन्कार, उसके सिवा किसी और उपास्य की सत्ता को मानना या स्वयं उसकी सत्ता को न मानना अक्षम्य अपराध है। यह तो इन धर्मों का मूलरूप है। ईसाई–धर्म पर उसके शैशव–काल में ही यूनानी दर्शन का प्रभाव पड़ा। इस समन्वय के कारण उसकी कट्टरता बहुत कुछ कम हो गयी। बाइबिल का वह भाग जिसमें ईसा और उनके शिष्य जॉन तथा सेंट पाल के उपदेश अंकित हैं, उदार आत्मज्ञानमूलक वाक्यों से परिपूर्ण हैं। जो ईसाई 'मैं आल्फा और ओमेगा–वर्णमाला का प्रथम और अन्तिम अक्षर हूँ' तथा 'मैं अपने पिता से अभिन्न हूँ–जैसे वाक्यों के अर्थ पर मनन करेगा वह विशिष्टद्वैत अनुभूति का निश्चय ही अधिकारी बन सकेगा।

इस्लाम पर भी यूनानी दर्शन और ईरान पहुंचने पर भारतीय दर्शन का प्रभाव पड़ा। इसी के फलस्वरूप सूफी सम्प्रदाय का जन्म हुआ। कोई सूफी कहता है 'हम: अजोस्त' सब कुछ उससे निकला है। उपनिषद् के शब्दों में 'यथोर्णनाभि: सृजते गृह्यते च', जैसे मकड़ी अपने शरीर से तन्तु निकालती है और फिर अपने में खींच लेती है। कोई सूफी इससे भी आगे जाता हैं। वह 'हम: बन्द: हम मौलास्तम्'–'मैं सेवक भी हूँ और सेव्य भी हूँ।' परन्तु ईसाई और सूफी साधक इस बात को नहीं भूल सकता कि–

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः कचन समुद्रो न तारंगः।।

'हे नाथ सचमुच भेद दूर होने पर भी मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं! तरंग समुद्र से निकली है, कभी समुद्र तरंग से नहीं निकलता।' वह उस पद की बात नहीं करता, जहाँ सेवक के साथ–साथ सेव्य की सत्ता भी किसी 'तत्' में विलीन हो जाती है।

जिन विचारधाराओं में प्रतीयमान जगत् का मूल कोई सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर माना जाता है, उनमें स्वभावत: इस बात पर बहुत जोर दिया है कि मनुष्य को ईश्वर की आज्ञा का आंख बंद करके पालन करना चाहिये। कवि के लिये असह्य है कि कोई व्यक्ति उसकी कृति को विकृत कर दे। अनन्त ज्ञानसम्पन्न ईश्वर ने ऐसे नियम बनाये हैं, जिनके अनुसार मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है। यदि वह इन नियमों का पालन नहीं करता,

तो वह ईश्वर के काम में बाधा डालता है और दण्ड का भागी बनता है। उसमें इतनी शक्ति नहीं है कि इन नियमों को अपनी बुद्धि के बल से ढूंढ निकाले। यह हो सकता है कि यदि वह प्रपन्न होकर ईश्वर की शरण जाय तो उसकी बुद्धि में ईश्वर की बुद्धि की छाया अवतरित हो और ईश्वर की इच्छा की झलक मिलती रहे; परन्तु यह सब तभी हो सकता है, जब कि वह ईश्वरचोदित विधि-निषेध की परिधि के बाहर जाने का क्षण भर के लिये भी दु:साहस न करे। सत्कर्म का अर्थ ईश्वराज्ञा पालन मात्र रह जाता है।

ईसा ने कहा है-दूसरों के साथ वैसा बर्ताव करो, जैसा बर्ताव तुम अपने लिये पसन्द करोगे। इस आदेश में बुद्धि के ऊपर बहुत बड़ा दायित्व आ जाता है, 'दूसरा' शब्द का क्या अर्थ है? मैं अपने साथ कैसा बर्ताव पसन्द करता हूँ-का विशद रूप यह हो जाता है कि मुझे अपने साथ कैसा बर्ताव पसन्द करना चाहिये। ऐसे प्रश्न का यथार्थ उत्तर देने के लिये बर्ताव की कोई-न-कोई कसौटी होनी चाहिये। यही कर्तव्यमीमांसा का उदगम स्थान है। पाश्चात्य दर्शनशास्त्री बाइबिल की व्याख्या भले ही न करते हों, परन्तु उनके ऊपर उस वातावरण का प्रभाव तो पड़ता ही है, जिसमें उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई है। इसके सिवा उनके सामने यह प्रश्न तो बराबर ही रहता था और है कि समाज का संचालन सुचारूरूप से तभी हो सकता है, जब समाज के सब अंग एक-दूसरे के साथ यथोचित आचरण करें। यथोचित आचरण क्या है, जानने के लिये उनको सदाचरण की कसौटी ढूंढ़नी पड़ी है। इस कसौटी की खोज में उनको जगत् के स्वरूप को पहचानने का भी यत्न करना पड़ता है। इसीलिये वह 'The good' के बाद 'The true' 'शिव' के बाद 'सत्यम' का नाम लेते हैं।

भारतीय दर्शन का स्रोत इससे सर्वदा भिन्न और विपरीत है। भारतीय विचारक ऐसा मानता है कि मनुष्य की सारी विपत्तियों, सारी कठिनाइयों का मूल अविद्या-अज्ञान है। जहाँ विद्या है, वहीं शक्ति है। अत: वह ज्ञान की खोज करता है। ज्ञान का क्षेत्र अनन्त है। जिस किसी पदार्थ की सत्ता है, वह ज्ञान का विषय है। यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो वह भी ज्ञेय है। ज्ञेयत्व की दृष्टि से छोटे-से-छोटे कीड़े-मकोड़े का वही स्थान है, जो ईश्वर का है। विभिन्न विद्वानों ने अविद्या और ज्ञाता तथा ज्ञेय के स्वरूप का विभिन्न प्रकार से वर्णन किया है। इन सबकी पराकाष्ठा शांकर-अद्वैतवाद अर्थात् मायावाद है। इसके अनुसार जगत् मिथ्या है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जगत् असत् है। यदि किसी को पृथ्वी पर पड़ी रस्सी सर्प प्रतीत होती है तो यह प्रतीयमान सर्प तो मिथ्या है, पर रस्सी सत्य है। जगत् के मिथ्यात्व का यही अर्थ है। जगत् जगत् रूप से असत्य है, ब्रह्मरूप से सत्य है। ब्रह्म ईश्वर नहीं है। वह चेतन नहीं, चित् है। न उसमें इच्छा है, न संकल्प है। न उसमें कोई परिवर्तन होता है। न उसमें क्रिया करने की सम्भावना है। जिस अज्ञान के कारण उसमें जगत् की प्रतीति होती है, उसका दूर हो जाना मोक्ष है।

भारतीय दर्शन में 'पुनर्जन्म' सिद्धान्त का बहुत बड़ा स्थान है। अपने कर्म-संस्कारों के कारण प्राणी एक के बाद दूसरे शरीर को धारण करता है। उसके सुख: दु:ख का कारण किसी ईश्वर की इच्छा नहीं, वरं स्वयं उसका कर्म है। जब जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य, परम पुरुषार्थ मोक्ष है तो फिर किसी सर्वशक्तिमान् व्यक्ति की खुशामद करने की, किसी ईश्वर की आंख बन्द कर आज्ञा मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वेदादि ग्रन्थ निश्चय ही विधि-निषेध की घोषणा करते हैं; परन्तु उनके आदेश उसी प्रकार के हैं, जैसे कि बड़ा भाई छोटे भाई को देता है। देवगण और ऋषिगण भी जीव हैं। वे भी नीचे से ऊपर उठे हैं। जो जीव आज उनकी आज्ञाओं का पालन करता है, वह ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ उन आज्ञाओं के औचित्य का स्वयं अनुभव करने लगेगा और

एक दिन उस पदवी को प्राप्त कर लेगा, जब उसको किसी उपदेष्टा की आवश्यकता न रह जायगी। वह स्वयं परमर्षि महादेव हो जायेगा। उसके मन और शरीर से सत्कर्म उसी प्रकार होंगे, जिस प्रकार कि बादल से अनायास जल की वृष्टि होती है। इसीलिये इस अवस्था को धर्ममेघ कहते हैं। जिस परमात्मा की ओर इन शास्त्रों में संकेत है, वह अल्लाह से बहुत भिन्न है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक होते हुए भी कर्म के अटल सिद्धान्त को किसी भी अंश में बदल नहीं सकता। उसका दूसरा नाम मायाशबल ब्रह्म है। अर्थात् यह ब्रह्म का वह रूप है जिसकी अनुभूति माया के झीने परदे के भीतर होती है।

यह स्पष्ट है कि इस विचारशैली में प्रधान स्थान ज्ञान-विद्या का ही हो सकता है। क्योंकि अविद्या के दूर होने से ही मोक्ष हो सकता है अर्थात् जीव इस प्रतीयमान जगत् को अपने जीवत्व के जीवेश्वर-भेद के ऊपर उठकर आत्मस्वरूप अर्थात् अखण्ड, अद्वय, सत्, चिन्मात्र, अनिर्वचनीय ब्रह्म पद में स्थिर हो सकता है। अविद्या का विनाश विद्या से हो सकता है, कर्म से नहीं। कर्म उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट क्यों न हो, वह द्वैत की सत्ता को स्वीकार करके ही किया जा सकता है और इस दृष्टि से जीव और मोक्ष के बीच की दीवार को दृढ़ करता है। शृंखला भले ही सोने की हो, परन्तु कोई बुद्धिमान् उससे बंधना पसन्द न करेगा। इसीलिये हमारे दर्शनों में कर्तव्यशास्त्र को प्राधान्य नहीं दिया जा सकता। हम 'शिवम्' का नाम लेते भी हैं तो 'सत्यम्' के बाद।

मोक्षानुभूति अर्थात् साक्षात्कार समाधि से होता है और समाधि के लिये अभ्यास एवं वैराग्य की आवश्यकता है। विक्षिप्त चित्त प्रतिक्षण इधर-उधर भटका फिरता है। स्थिर सत्य का अनुभव नहीं कर सकता। ऐसे अनुभव के लिये चित्त को वासनारहित करना होगा। कठोपनिषद् के शब्दों में-

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति।।' (2।3।14)

इसका तात्पर्य यह हुआ कि कर्म किये तो जायं परन्तु निष्काम होकर; वासनाओं की तृप्ति के लिये नहीं, वरन उनके उपशम के लिये! भारतीय दर्शन में यही स्थल कर्तव्यशास्त्र का उदगम स्थान है। ईशावास्य-उपनिषद् विशेष रूप से विचारणीय है-

ईशा वास्यमिदँ् सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।
कुर्वन्नेहवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ् समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।। 1-2।।

पहले द्वितीय मन्त्र को लीजिये। इस प्रकार कर्म करते हुए वह अर्थात् सुख-दु:ख, आशा-भय आदि के संस्कार उसको लिप्त न कर सकें। मनुष्य सौ वर्ष अर्थात् पूर्णायु जीवे। शुक्ल यजुर्वेद के छत्तीसवें अध्याय का चौबीसवाँ मन्त्र इस सौ वर्ष की पूर्ण आयु का रूप बतलाता है-

'पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतँ् शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्।'

'हम सौ वर्ष तक जीते रहें, हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ सौ वर्ष तक काम करती रहें। (वैदिक वाङमय में चक्षु को सब ज्ञानेन्द्रियों का और वाणी को सब कर्मेन्द्रियों का उपलक्षण मानते हैं।) सौ वर्ष तक ज्ञान

का संचय करते रहें (वेद को श्रुति कहते हैं इसलिये 'हम सुनते रहें' का अर्थ है हमको ज्ञान की प्राप्ति होती रहे) और हम सौ वर्ष तक अदीन रहें।' पहला मन्त्र यह बतलाता है कि किस प्रकार का आचरण करने से मनुष्य कर्म-फल से अलिप्त रह सकता है। समस्त जगत् को ईश्वर से आच्छादित करना चाहिये। ऐसा मानना चाहिये कि समस्त जगत् में ईश्वर भीतर और बाहर व्याप्त है। समस्त जगत् उसकी अभिव्यक्ति है। ऐसी अवस्था में एक वस्तु को पसन्द करने और दूसरी को नापसन्द करने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। इसलिये जो कुछ यदृच्छया प्राप्त हो जाय, उसका त्याग के द्वारा असंग भाव से उपभोग करना चाहिये। त्याग सक्रिय भाव है। हम उसकी व्याख्या आगे चलकर करेंगे। अन्त में मन्त्र कह सकता है कि किसी के अर्थात् दूसरों के धन की लालच मत करो। यह सुनने में बड़ी स्थूल सी बात प्रतीत होती है, परन्तु इसका वास्तविक आशय यह है कि मनुष्य को चाहिये कि विषयों की, जो दूसरों अर्थात् इन्द्रियों के धन हैं, कामना न करे। यदि ध्यान से देखा जाय तो सारी भगवद्गीता इन दोनों मन्त्रों की व्याख्यामात्र है।

कठोपनिषद् की दूसरी वल्ली ने परम पुरुषार्थ और सदाचार के सम्बन्ध में एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात कही है। जिसके बारे मं पाश्चात्य विद्वानों को भी बराबर विचार करते रहना पड़ता है।

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयोक्ते उभे नानार्थे पुरुवर सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते।। -(कठो0 1।2।1)

श्रेय प्रेय से भिन्न है। इन दोनों के अर्थ अर्थात् विषय भिन्न हैं और ये मानो जीव को अलग- अलग प्रकार से बांधते हैं। जो श्रेय को चुनता है, उसका कल्याण होता है; परन्तु जो प्रेय को चुनता है, वह पुरुषार्थ से दूर हो जाता है। इसके आगे चलकर कहा गया है-

'तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः।'

जो व्यक्ति फल की कामना को छोड़कर कर्म करता है, जो शोक का अतिक्रमण कर गया है, वह धातु के प्रसाद से आत्मा की महिमा का अनुभव करता है। यहाँ 'धातु' का तात्पर्य अन्तःकरण और उसके उपकरणों अर्थात् इन्द्रियों से है। अन्तःकरण के प्रसाद की प्राप्ति का उपाय पातंजलयोग-दर्शन में इस प्रकार बताया गया है-

''मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयेषु भावनातश्चित्तप्रसादनम्।'

चित्त का प्रसाद प्राप्त करने के लिये सुख के प्रति मैत्री का अर्थात् संसार में सुख की मात्रा को बढ़ाने का, दुःख के प्रति करुणा का, अर्थात् संसार में दुःख की मात्रा घटाने का, पुण्य के प्रति मुदिता का अर्थात् संसार में पुण्य की मात्रा बढ़ाने का और अपुण्य के प्रति उपेक्षा का, अर्थात् दुराचारी से द्वेष न करते हुए दुराचार को दूर करने का, सतत अभ्यास करना होगा। अपनी शारीरिक और बौद्धिक विभूतियों को इस प्रयास में लगाना ही त्याग है। इस वल्ली का एक और मन्त्र कहता है-

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।। -(कठ0 1।2।24)

'जो दुश्चरित से विरत नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियां वश में नहीं हैं, जिसका चित्त समाधि में स्थिर नहीं है, उसको इस सत् पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता।' केनोपनिषद् में कर्म को विद्या के आधारों-बर्तनों में परिगणित किया है।

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वांगानि सत्यमायतनम्। –(केन0 खण्ड 4 मन्त्र 8)

भारतीय आचार्यों ने कर्म का क्षेत्र कभी भी मनुष्य तक सीमित नहीं किया। इस जगत् में ब्रह्मदेव से लेकर कीटाणु तक जितने भी प्राणी हैं, उन सबसे हमारा सम्बन्ध है, उन सबका हमारे ऊपर ऋण है, उन सबके ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोग से ही हमारा कल्याण हो रहा है। अतः उन सबके प्रति हमारा कुछ–न–कुछ कर्तव्य है। न तो हम उन सबको पहचानते हैं, जो निरन्तर हमारा उपकार कर रहे हैं और न उन सबकी किसी प्रकार की सेवा ही कर सकते हैं, परन्तु इस बात का अनुभव भी हमारे चरित्र को उठाता है कि हम पदे–पदे दूसरों के ऋणी हैं।

बृहदारण्यक–उपनिषद् के पहले अध्याय के चौथे ब्राह्मण का सोलहवां मन्त्र कहता है–

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितृणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयाँ्स्या पिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोको यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवँ् हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति।

'कर्म में लगा हुआ यह आत्मा सब प्राणियों का लोक अर्थात् आश्रय है। अपने यज्ञ और पूजन से वह देवों का लोक होता है। अपने अध्ययन और अनुशिक्षण से ऋषियों का, पितरों के लिये बलि देने और सन्तान छोड़ जाने की इच्छा करने से पितरों का, मनुष्यों को भोजनादि देने से मनुष्यों का, तृणोदक् देने से पशुओं का तथा उन कुत्तों, चिड़ियों और चींटी आदि छोटे प्राणियों का लोक हो जाता है, जो उसके घर में रहते हैं और उसके सहारे जीते हैं। जिस प्रकार सब लोग अपने शरीर का भला चाहते हैं, इसी प्रकार सब प्राणी उसका भला चाहते हैं, जिसका ज्ञान और कर्म इस प्रकार का होता है।'

जो मनुष्य जगत् में जल से अलिप्त कमल के पत्ते के समान रहनाचाहता है, उसके लिये पांचवें अध्याय के दूसरे ब्राह्मण में दी हुई कथा रोचक होने के साथ ही बहुत ही उपदेशपूर्ण भी है। एक बार प्रजापति तीनों प्रकार के पुत्र अर्थात् देव, असुर और मनुष्य उनकी सेवा में उपस्थित हुए। उनकी दीर्घकालीन अर्चा से प्रजापति प्रसन्न हुए। उपासकों को आकाश में गम्भीर नाद के रूप में 'द' अक्षर सुन पड़ा। 'द' का अर्थ देवों के लिये दाम्यत 'दमन करो', मनुष्य के लिये दत्त 'दो' और असुरों के लिये दयध्वम् 'दया करो' था। देव और असुर सौतेले भाई दोनों ही प्रजापति की सन्तान हैं, बलवान् हैं, तप कर सकते हैं अर्थात् विक्षेप को छोड़कर किसी एक काम में अपनी सारी शक्ति लगा सकते हैं और जिस काम में लग जाते हैं, उसमें प्रायः सफलता प्राप्त करके ही छोड़ते हैं। दोनों में बराबर संघर्ष होता रहता है। बहुधा ऐसा भी होता है कि असुरगण देवगण को जीत लेते हैं। परन्तु पराशक्ति फिर देवों को विजय प्रदान करती है। कभी–कभी देवों को ऐसी विजय पर गर्व भी हो जाता है, परन्तु जैसा कि केनोपनिषद् का 'यक्षोपाख्यान' दिखलाता है, यह अभिमान नीचे गिरानेवाला है। ऐसा नम्रतापूर्वक समझ लेने में कि उनको पराशक्ति से ही स्फूर्ति मिलती है, उनका कल्याण है। सप्तशती में इस बात की ओर संकेत है कि असुरगण देवी के हाथों मारे जाते हैं, परन्तु इस प्रक्रिया से पवित्र होकर उनको देवलोक की प्राप्ति होती है। यह तो स्पष्ट ही है कि ऐतिह्रासिक दृष्टि से देव और असुर कोई भी रहे हों, परन्तु ऐसे दार्शनिक प्रसंगों में ये दोनों शब्द परार्थमूलक और स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों और वासनाओं के लिये प्रयुक्त होते हैं। परार्थमूलक प्रवृत्तियाँ अच्छी हैं परन्तु उनके ऊपर बुद्धि का अंकुश हो सकता है। अन्यथा भलाई के स्थान में संसार का अहित हो सकता

है। इसीलिये देवों को 'दाम्यत' का उपदेश दिया गया। अपने स्वार्थ की सिद्धि में कभी-कभी सैकड़ों और हजारों व्यक्तियों को घोर हानि पहुँचायी जाती है। उतने दामों में जो सुख मिलता है, उसका न मिलना ही अच्छा है। और फिर विषय-सुख तो उस कड़वी वस्तु के समान होते हैं, जिसके ऊपर धोखा देने के लिये चीनी लगी होती है। मुंह पर रखते ही मीठा स्वाद कड़वेपन में बदल जाता है, इसीलिये असुरों के प्रति 'दयध्वम्' कहा गया है। प्रवृत्त होने के पहले यह सोच लो कि तुम्हारे द्वारा कर्ता तथा दूसरों का कितना बड़ा अनिष्ट होगा। मनुष्य के लिये तो 'दत्त' से अच्छा उपदेश हो ही क्या सकता है। तुम्हारा जो कुछ है, सब लोक-संग्रह में-परार्थ-सेवन में अर्पित कर दो।

देव-विजेता असुर देवों के हाथ से मारे जाकर देवलोक को प्राप्त हुए। इसका तात्पर्य यह है कि जो प्रवृत्तियाँ मनुष्य को नीचे गिराती हैं, यदि उनका दमन किया जाय तो वही पवित्र होकर मनुष्य को पावन बनने में सहायता देती हैं। कामवासना स्वतः बुरी चीज हो सकती है; परन्तु उन्नमित काम कवि की लेखनी में चमत्कार ला देता है और मीरा-जैसे भक्त और गिरधरनागर के बीच में सम्बन्धसूत्र बनता है। इसीलिये शृंगार को **'ब्रह्मानन्दसहोदर'** कहा जाता है। इसी बात को सामने रखकर बार-बार यह उपदेश दिया जाता है कि 'यज्ञभाव से कर्म करना चाहिये।' यज्ञ में बलिपशु में देवता अवतरित होती है और बलिकर्म के बाद उसकी शक्ति यजमान में प्रवेश कर जाती है। लोकसंग्रह-भाव से, ईशावास्य-उपनिषद् के शब्दों में ईश से आच्छादित करके कर्म करने से, अपनी कुप्रवृत्तियों का संहार हो जाता है और जो शक्ति उनको तृप्त करने में लगती थी, वह जीव को ऊपर उठाने में लग जाती है। जो अन्तःकरण इन्द्रियों के पीछे बहिर्मुख दौड़ता था, वही अन्तर्मुख होकर आत्मसाक्षात्कार का साधन बन जाता है।

उपनिषदों ने सत्कर्मों की सूची देने का प्रयत्न नहीं किया है, फिर भी उन्होंने उन एक-दो बातों पर बारम्बार जोर दिया है, जिनको हम सदाचार का मूल या प्रधान अंग कह सकते हैं। 'सत्य' और 'ब्रह्मचर्य' की प्रशंसा में सैकड़ों वाक्य मिलते हैं। छान्दोग्य-उपनिषद् के शब्दों में **'यद् यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्य मेव तत्'** जिसको यज्ञ कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही है। इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् में ऋषि सत्य की इस प्रकार महिमा गाता है-

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।।
सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्।। -(3।1।5-6)

'इस शुद्ध ज्योतिर्मय आत्मा को, जिसको क्षीणदोष यतिलोग अपने भीतर देखते हैं, सत्य, तप, ज्ञान और ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। सत्य की ही विजय होती है, झूठ की नहीं। वह देवयान-मार्ग, जिससे आप्तकाम ऋषिगण सत्य के उस परम निधान पर पहुंचते हैं, सत्य के द्वारा ही खुलता है।' बार-बार यह कहा गया है-**'सत्यप्रिया हि देवाः'** देवों को सत्य ही प्रिय है। किसी भी कर्म की सिद्धि इस बात पर निर्भर करती है कि उसके करने में कितनी सचाई से काम लिया जाता है। सचाई के अभाव में अच्छा-से-अच्छा काम तामस कर्म हो जाता है। इसलिये ऋषियों का आदेश था कि यज्ञात्मक कामों के आरम्भ में यह संकल्प किया जाय। **'इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि'** यह मैं झूठ को छोड़कर सत्य को ग्रहण करता है।

इस प्रकार के वाक्यों के अर्थ पर मनन करने से यह बात समझ में आ जाती है कि भारतीय दर्शन में

कर्म का क्या स्थान है और किस प्रकार के आचरण को सदाचरण कहा जा सकता है; परन्तु अभी तक मैंने स्पष्ट-रूप से यह नहीं बतलाया कि भारतीय विचारधारा के अनुसार सत्कर्म की कसौटी क्या हो सकती है। वह कौन-सा लक्षण होना चाहिये, जिसके अभाव में किसी कर्म-विशेष को सत्कर्म नहीं कहा जा सकता। अज्ञान के कारण आत्मा अपने स्वरूप को भुलाकर जीव बन रहा है। जिस प्रकार पानी में गिरे हुए व्यक्ति को किनारे पर पहुंचने के लिये पानी का उपयोग करना पड़ता है, उसी प्रकार अज्ञान से छुटकारा पाने के लिये इस अज्ञानमूलक जगत् से काम लेना पड़ता है। कर्म से तो नितान्त छुटकारा नहीं मिल सकता, परन्तु इस प्रकार कर्म करना श्रेयस्कर होगा कि अज्ञान का बन्धन क्षीण हो। जब तक अज्ञान है, तब तक नानात्व की प्रतीति होती रहेगी। उपनिषद् पुकार-पुकार कर कहते हैं-

'नेह नानास्ति किंचन, द्वितीयाद्वै भयं भवति'

'यहाँ जरा भी नानात्व नहीं है। द्वैत से निश्चय ही भय होता है।' परन्तु केवल वाक्यों की आवृत्ति करने या तर्क करने से अखण्ड एकरस अद्वय ब्रह्म-सत्ता की अनुभूति नहीं हो सकती। उसके लिये चित्त का समाहित होना अनिवार्यता आवश्यक है। परन्तु थोड़ी देर तक पदमादि आसन लगाकर बैठ जाने और प्राणायाम मुद्रा आदि का अभ्यास करने से ही समाधि की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसके लिये तो जाग्रत अवस्था में भी प्रयत्नशील रहना चाहिये। दूसरे प्राणियों से अभेद स्थापित करना ही इस दिशा में यथार्थ प्रयत्न है। जिस हद तक कोई मनुष्य दूसरे के दुःख सुख को अपना दुःख-सुख बना सकता है-उसके साथ सह-अनुभूति प्राप्त कर सकता है, उस हद तक वह अज्ञान की निवृत्ति के पथ पर अग्रसर होता है। माता को अपनी सन्तान के साथ और दम्पत्ति को एक दूसरे के साथ भी ऐसी सह-अनुभूति, ऐसी अभेद-भावना हो सकती है, परन्तु इस अभेद-भावना के साथ एक प्रबल भेद-भावना भी लगी रहती है। जितना ही एक के साथ अभेद होता है, उतना ही दूसरों के साथ भेद होता है। इसलिये इस भावना से प्रेरित होकर जो कर्म किये जाते हैं, वे अज्ञान को दूर करने में सहायक नहीं हो सकते। परन्तु जिस समय कोई व्यक्ति किसी डूबते को या आग में जलते हुए को बचाने के लिये कूद पड़ता है, उस समय उसको उसके साथ तादात्म्य का अनुभव नहीं होता। उस क्षण में उसके लिये भेद का अभाव हो जाता है और उसको उस आनन्द की झलक मिलती है, जिसको योगी समाधि की अवस्था में प्राप्त करताा है, समाधि का अभ्यास ऐसे कामों की ओर प्रवृत्ति होने की प्रेरणा देता है और ऐसे कामों में लगना समाधि के लिये अधिकार प्रदान करता है। इसका फलितार्थ यह निकला कि जो काम अभेद-भावना की ओर ले जाता है, वह सत्कर्म है, कर्तव्य है, करणीय है। जो काम भेद-भावना पर अवलम्बित है और भेद-भावना को पुष्ट करता है, वह अकरणीय है, दुष्कर्म है। पाश्चात्य विद्वानों ने सत्कर्म के जितने भी लक्षण बताये हैं, वे सब इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

वेद को प्रमाण माननेवाले भारतीय दर्शनशास्त्रों ने उपनिषदों को ही अपना आधार माना है। इसीलिये मैंने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि यद्यपि भारतीय दर्शन में कर्म को ज्ञान की अपेक्षा गौण स्थान ही दिया जा सकता है; परन्तु उपनिषदों में वे सिद्धान्त स्पष्ट रूप से दिये हुए हैं, जिनके आधार पर कोई भी विचारशील मनुष्य अपने लिये कर्तव्य का निश्चय कर सकता है। इस पथ पर चलनेवाला अपने लिये तो निःश्रेयस का द्वार खोल ही लेगा, उसके तपःपूत व्यक्तित्व के प्रकाश में मानव-समाज भी अभ्युदय के पथ पर आरूढ़ हो सकेगा।

❁❁❁

ऐतरेय ब्राह्मण की एक सदाचार-कथा

लेखकः डॉ० इन्द्रदेवसिंह आर्य

ब्राह्मण ग्रन्थों में सदाचार के अनेक प्रेरणा-स्रोत हैं, ऐतरेयब्राह्मण का हरिश्चन्द्रोपाख्यान वैदिक साहित्य का अमूल्य रत्न है। इसमें इन्द्र ने रोहित को जो शिक्षा दी है, उसका टेक है-**'चरैवेति' 'चरैवेति'**- चलते रहो, बढ़ते रहो, इस उपाख्यान के अनुसार सैकड़ों स्त्रियों के रहते हुए भी राजा हरिश्चन्द्र के कोई सन्तान न थी। उन्होंने पर्वत और नारद इन दो ऋषियों से इसका उपाय पूछा। देवर्षि नारद ने उन्हें वरुण की आराधना की सलाह दी। राजा ने वरुण की आराधना की और पुत्र प्राप्ति पर उससे उनके यजन की भी प्रतिज्ञा की। इससे उन्हें पुत्र प्राप्त हुआ और उसका नाम रोहित रखा। कुछ दिन बाद जब वरुण ने हरिश्चन्द्र को अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण कराया तो उन्होंने उत्तर दिया-जब तक शिशु के दांत नहीं उत्पन्न होते, वह शिशु अमेध्य होता है, अतः दांत निकलने पर यज्ञ करना उचित होगा।

-(ऐतरेय0 7। 33। 1-2)

वरुण ने बच्चे के दांत निकलने पर जब उन्हें पुनः स्मरण दिलाया, तब हरिश्चन्द्र ने कहा-'अभी तो इसके दूध के दांत निकले हैं, यह अभी निरा बच्चा ही है। दूध के दांत गिरकर नये दांत आ जाने दीजिये, तब यज्ञ करूंगा। फिर दांत निकलने पर वरुण ने कहा-'अब तो बालक के स्थायी दांत भी निकल आये; अब तो यज्ञ करो।' इस पर हरिश्चन्द्र ने कहा-'यह क्षत्रियकुलोत्पन्न बालक है। क्षत्रिय जब तक कवच धारण नहीं करता, तब तक किसी यज्ञीय कार्य के लिये उपयुक्त नहीं होता। बस, इसे कवच-शस्त्र धारण करने के योग्य हो जाने दीजिये, फिर आपके आदेशानुसार यज्ञ करूंगा।' वरुण ने उत्तर दिया-'बहुत ठीक!' इस प्रकार रोहित सोलह-सत्तरह वर्षों का हो गया और शस्त्र कवच भी धारण करने लगा। तब वरुण ने फिर टोका। हरिश्चन्द्र ने कहा-'अच्छी बात है। आप कल पधारें। सब यज्ञीय व्यवस्था हो जायेगी।

-(ऐतरेय0 7। 33। 14)

हरिश्चन्द्र ने रोहित को बुलाकर कहा-तुम वरुणदेव की कृपा से मुझे प्राप्त हुए हो, इसलिये मैं तुम्हारे द्वारा उनका यजन करूंगा। किन्तु रोहित ने यह बात स्वीकार नहीं की और अपना धनुष-बाण लेकर वन में चला गया। अब वरुणदेव की शक्तियों ने हरिश्चन्द्र को पकड़ा और वे जलोदर रोग से ग्रस्त हो गये। पिता की व्याधि का समाचार जब रोहित ने अरण्य में सुना, तब वह नगर की ओर चल पड़ा। पर बीच मार्ग में ही इन्द्र पुरुष का वेष धारण कर उसके समक्ष प्रकट हुए और प्रतिवर्ष उसे एक-एक श्लोक द्वारा उपदेश देते रहे। यह उपदेश पांच वर्ष में पूरा हुआ और तब तक रोहित अरण्य में ही बसकर उनके आदेश का लाभ उठाता रहा। इन्द्र के पांच श्लोकों का वह उपदेश-गीत इस प्रकार है-

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम।
पापो नृषद्वरोजन इन्द्र इच्चरतः सखा चरैवेति।। (ऐतरेय ब्रा0 7। 33। 15। 1)

'रोहित! हमने विद्वानों से सुना है कि श्रम से थककर चूर हुए बिना किसी को धन-सम्पदा प्राप्त नहीं होती। बैठे-ठाले पुरुष को पाप धर दबाता है। इन्द्र उसी का मित्र है, जो बराबर चलता रहता है-थककर, निराश होकर बैठ नहीं जाता। इसलिये चलते रहो।'

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताश्चरैवेति॥ 2॥

'जो व्यक्ति चलता रहता है, उसकी पिंडलियां (जांघें) फूल देती है (अन्यों द्वारा सेवा होती है)। उसका आत्मा वृद्धिंगत होकर आरोग्यादि फल का भागी होता है और धर्मार्थ प्रभासादि तीर्थों में सतत् चलनेवाले के अपराध और पाप थककर सो जाते हैं। अतः चलते ही रहो।

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगश्चरैवेति॥ 3॥

'बैठने वाले की किस्मत बैठ जाती है, उठनेवाले की उठती, सोनेवाले की सो जाती है और चलनेवाले का भाग्य प्रतिदिन उत्तरोत्तर चमकने लगता है। अतः चलते ही रहो।'

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरंश्चरैवेति॥ 4॥

'सोनेवाला पुरुष मानो कलियुग में रहता है, अंगड़ाई लेनेवाला व्यक्ति द्वापर में पहुंच जाता है और उठकर खड़ा हुआ व्यक्ति त्रेता में आ जाता है तथा आशा और उत्साह से भरपूर होकर अपने निश्चित मार्ग पर चलनेवाले के सामने सतयुग उपस्थित हो जाता है। अतः चलते ही रहो।'

चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति॥ -(ऐत0 7। 33। 15। 5)

'उठकर कमर कसकर चल पड़नेवाले पुरुष को ही मधु मिलता है। निरन्तर चलता हुआ ही स्वादिष्ट फलों का आनन्द प्राप्त करता है; सूर्यदेव को देखो जो सतत् चलते रहते हैं, क्षणभर भी आलस्य नहीं करते। इसलिये जीवन में भौतिक और आध्यात्मिक मार्ग के पथिक को चाहिये कि बाधाओं से संघर्ष करता हुआ चलता ही रहे, आगे बढ़ता ही रहे।'

इस सुन्दर उपदेश में रोहित को इन्द्र ने बराबर चलते रहने की शिक्षा दी है, जो उन्हें किसी ब्रह्मवेत्ता से प्राप्त हुई थी। गीता का मूल उद्देश्य आत्मा का उद्‌बोधन है, जिसमें बताया गया है कि क्या अभ्युदय और क्या निःश्रेयस दोनों की उन्नति के पथिक को बिना थके आगे बढ़ते रहना चाहिये; क्योंकि चलते रहने का ही नाम जीवन है। ठहरा हुआ जल, रुका हुआ वायु गंदा हो जाता है। बहते हुए झरने के जल में ताजगी और जिन्दगी रहती है, प्रवाहशील पवन में प्राणों का भंडार रहता है। कोटिशः वर्षों से अनन्त आकाश में निरन्तर चलते हुए सूर्यदेव पर दृष्टि डालिये, वह असंख्य लोक-लोकान्तरों का भ्रमण करता हुआ हमारे द्वार पर आकर हमें निरन्तर उपदेश दे रहा है। वेद भगवान् कहते हैं-**'स्वस्ति**

पथामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव' अर्थात् कल्याणमार्ग पर चलते रहो, चलते रहो–जैसे सूर्य और चन्द्र सदा चलते रहते हैं। ऐतरेय भी कह रहा है–**'चरैवेति' चरैवेति।'** आत्मा उनका ही वरण करता है जो अपने मार्ग में आगे कदम उठाते बढ़ते जाते हैं। भगवान् उनका कल्याण निश्चित रूप से स्वयं करते हैं।

अन्त में रोहित को वन में ही अजीगर्त मुनि अपने तीन पुत्रों के साथ भूख से संतप्त दृष्टिगोचर हुए। रोहित ने उनके एक पुत्र शुनः शेप को उन्हें सौ गायें देकर यज्ञ के लिये मोल ले लिया। हरिश्चन्द्र का यज्ञ आरम्भ हुआ। उसके यज्ञ में विश्वामित्र होता, जमदग्नि अध्वर्यु, वसिष्ठ ब्रह्मा और अयास्य उद्गाता बने। शुनः शेप ने विश्वामित्र के निर्देश से **'कस्य नूनम् अभित्वादेव'** इत्यादि मन्त्र से प्रजापति, अग्नि, सविता और वरुण आदि देवों की स्तुति और प्रार्थना की। इससे वह समस्त बन्धनों से मुक्त हो गया। वरुणदेव ने भी संतुष्ट होकर राजा हरिश्चन्द्र को रोग से मुक्ति प्रदान की। इस प्रकार इन्द्र के उपदेश से देवों की स्तुति, प्रार्थना और उपासना तथा यज्ञ की सफलता से रोहित का जीवन भी सफल और आनन्द से परिपूर्ण हो गया। निदान, ऐतरेय ब्राह्मण का निष्कर्ष यह है कि सदाचार के मार्ग पर सदा चलते रहना चाहिये। 'चरैवेति–चरैवेति' सदाचार का शाश्वत संदेश है। ❋❋❋

जिन्दगी

बहिन शान्ति नागर, आगरा (उ० प्र०)

सत्य के हित सजी, सत्य के हित मिटी।
सत्य के हित लुटी, जो वही जिन्दगी।
बाँध पाये नहीं देश के दायरे।
कहीं जन्मी कहीं पर बँटी जिन्दगी।
चन्द सांसों को बोलो न तुम जिन्दगी।
जिन्दगी त्याग बलिदान काम नाम है।
खुद जो जलती रहे लो मचलती रहे।
वर्तिका सी जले बस वह जिन्दगी।

X X X

गर्व को गाड़ दे, लोभ को टार दे।
क्रोध को काट दे, मार को मार दे॥
ज्ञान की आग में, मोह को बार दे।
सत्य के सिन्धु में, झूठ को डार दे॥

❋❋❋

आर्यसमाज में सदाचार

लेखकः छाजूराम शर्मा शास्त्री

आर्यसमाज शुद्ध आचरण पर विशेष बल देता है। धर्मपालन में सदाचार का वही स्थान है, जो मकान बनाने में उसकी नींव का है। सभ्य समाज में दुराचारी का कुछ भी मूल्य नहीं होता, न उसका कोई विश्वास करता है। जगत् में जितने भी महान् व्यक्ति हो गये हैं, उनकी ख्याति का मूल कारण सदाचार ही रहा है। गुणों की दृष्टि से सदाचारी तथा आर्य–ये दोनों शब्द समानार्थक हैं। वेद के–'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' (ऋ0 सं0 9। 63। 5) इस वाक्य में मनुष्य को श्रेष्ठ या सदाचारी बनने का ही संदेश है। ऐसा बनने के लिये यजुर्वेद के एक मन्त्र में ईश्वर से प्रार्थना की गयी है–ओम् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव॥ (शुल्क यजु0 30। 3)– 'हे सकल जगत् के उत्पत्तिकर्ता समस्त ऐश्वर्य–सम्पन्न, शुद्ध–बुद्ध सब सुखों के दाता परमेश्वर! आप कृपाकर हमारे सभी दुर्गुण, दुर्व्यसन एवं दुःखों को दूर कीजिये और जो हितकारी गुण–कर्म स्वभाववाले पदार्थ हैं, वे सब हमें प्राप्त कराइये।' कारण जब तक दुर्गुणों की निवृत्ति न होगी, तब तक सद्गुणों की प्रवृत्ति न होगी; क्योंकि दो विरोधी गुण (दुर्गुण तथा सद्गुण) एक काल में साथ नहीं ठहर सकते। किसी नीतिकार ने भी ठीक ही कहा है–

निवसन्तीह यत्र दुर्गुणा अधितिष्ठन्ति न तत्र सद्गुणाः।
स्वयमेव स तैलतो यथा सलिलानि प्रपतन्ति दारुतः।।

'जैसे तेल पड़ी हुई चिकनी लकड़ी पर पानी नहीं ठहरता, वैसे ही जहाँ दुर्गुण निवास करते हैं, वहाँ सद्गुण नहीं ठहरते।' विचारणीय है कि ये सद्गुण आयें कहाँ से, जिससे मनुष्य सदाचारी बन सके? इसका उत्तर है कि सत्संग से ही मनुष्य में सद्गुणों का प्रादुर्भाव हो सकता है। बड़े–बड़े दुराचारी मनुष्य भी सत्संग से निःसन्देह सदाचारी बन गये हैं। आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी श्री दयानन्द जी का जीवन ऐसा पवित्र था कि उनके सत्संग एवं उपदेशों से आज तक लाखों व्यक्तियों के जीवन में सुधार हुआ है। उनके जीवन की ऐसी अनेक घटनाएँ हैं, जिनमें से एक दो घटनाएँ यहाँ दी जाती हैं, पाठक उसे देखें–

स्वामीजी के समकालीन पंजाब के एक तहसीलदार अमीचन्दजी बड़े दुराचारी थे। अण्डा, मांस, शराब आदि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन और अन्य अनाचार उनके जीवन के स्वाभाविक अंग बन गये थे, परन्तु उनमें एक बड़ा गुण यह भी था कि वे सुरीली व मधुर आवाज से संगीत का बड़ा सुन्दर गान करते थे। उनके संगीत की प्रशंसा सुनकर एक बार स्वामी दयानन्द जी ने भी अमीचन्द जी से गीत सुनने की इच्छा व्यक्त की। उनके भक्तों ने कहा–'महाराज! वह अमीचन्द तो बड़ा कदाचारी और दुर्व्यसनी है।' स्वामीजी ने उत्तर दिया–कोई बात नहीं। आप उनको मेरे सामने लाइये तो सही! तहसीलदार अमीचन्द जी को बुलाया गया और उन्हें शिष्टाचार के पश्चात् गीत सुनाने को कहा गया। उन्होंने ऐसा सुमधुर

गीत सुनाया कि स्वामीजी गद्गद हो गये। उसक पश्चात् उन्होंने एक ही वाक्य कहा–'अमीचन्दजी! आप हो तो हीरे, परन्तु कीचड़ में फंस गये हो।' बस, इतना कहना था कि अमीचन्दजी सब कुछ समझ गये। वे तुरन्त ही घर गये और वहाँ जाकर मांस, शराब की सब प्लेटें और बोतलें तोड़कर फेंक दीं और दुराचार छोड़ देने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली। उन्हें अपने पूर्व जीवन से घृणा हो चली। उसी दिन से उन्होंने पूर्वकृत अपराधों पर पश्चात्ताप किया और स्वामी दयानन्दजी के पक्के भक्त बन गये। फिर उन्होंने सैकड़ों ही सुन्दर गीतों के द्वारा आर्यसमाज के वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार किया। देखिये–स्वामीजी के एक ही वाक्य से वे कांच से हीरे बन गये। सचमुच संतों के वचनों में बड़ी शक्ति होती है, जो सम्पूर्ण जीवन को ही बदल देती है।

इसी प्रकार पंजाब में जालन्धर जिले के तलवन ग्राम के निवासी श्रीमुंशीरामजी भी, जो सब प्रकार से सदाचारी बनकर आर्यसमाज के एक बहुत बड़े तपस्वी नेता स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से प्रसिद्ध हो गये। पता नहीं, इस प्रकार उनके द्वारा कितनों के जीवन का सुधार हुआ। अतः कहना पड़ता है कि मनुष्य को श्रेष्ठ सदाचारी बनने के लिये सत्संग से बढ़कर कोई अन्य साधन नहीं है। (द्र0 आर्यसमाज का इतिहास भाग 2) सत्संग से ज्ञान में वृद्धि होती है। यदि ज्ञान के अनुसार आचरण न हो तो वह ज्ञान निष्प्राण है। सकल शास्त्रों का ज्ञान होने पर भी मनुष्य सदाचारी न बना तो वह मनुष्य कैसा है, इसे एक नीतिकार की दृष्टि में देखिये–

पठन्ति चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
आत्मानं नैव जानन्ति दर्वी पाकरसं यथा।। (दक्षस्मृति)

'कुछ लोग चारों वेद और अनेक धर्मशास्त्रों को पढ़ते हैं। परन्तु अपने स्वरूप को जानकर सत्याचरण नहीं करते, तो वे कड़छी वा उस चम्मच के समान हैं, जो नित्य अनेक बार दाल–सब्जियों में जाती हैं, परन्तु उसका स्वाद नहीं जानती। वस्तुतः मनुष्य के अच्छा या बुरा बनने के तीन कारण हैं–एक पूर्वजन्म के संस्कार, दूसरा बाह्य वातावरण और तीसरा माता–पिता या आचार्य की शिक्षा। जैसे वातावरण में रहकर जैसी शिक्षा ग्रहण करेगा, मनुष्य वैसा ही बनेगा। बड़ों को देखकर छोटों पर भी वैसा ही प्रभाव पड़ता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता (3। 20) में यही बात बतायी है–

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।

अर्थ स्पष्ट ही है। अतः बड़ों को चाहिये कि छोटों के सामने ऐसा कोई आचरण न करें कि जिससे उन पर बुरा प्रभाव पड़े। माता–पिता और अध्यापक लोग बालकों को ऐसी शिक्षा दें जिससे वे चोरी, आलस्य, प्रमाद, मादक द्रव्य–सेवन, मिथ्या भाषण, हिंसा, क्रूरता, ईर्ष्या, द्वेष आदि दोषों को त्यागकर सत्याचरण पर ध्यान दें तथा दुराचारी मनुष्यों से पृथक् रहें। वे देखें कि बालक कुसंग में फंसकर किसी प्रकार कुचेष्टा तो नहीं करता (सत्यार्थ प्र0 द्वि0 समु0)। उपदेश देना जितना सरल है, आचरण करना

उतना ही कठिन है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है–

पर उपदेश कुशल बहु तेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे।। (मानस 6)

वस्तुतः सच्चा मानव बनने के लिये उसे सदाचार की अग्नि में तपना पड़ता है। शुद्ध संस्कार का यही अभिप्राय है कि मनुष्य के अन्दर जो अनिष्ट संस्कार पड़े हुए हैं, उन्हें दूर करके शुद्ध संस्कार डाले जायँ, उनके विचारों में परिवर्तन लाकर उन्हें श्रेष्ठ सदाचारी बनाया जाय; जिससे वह समाज के लिये उपयोगी सिद्ध हो सके। बिना संस्कार किये मनुष्य लोक-व्यवहार में खरा नहीं उतरता।

लोक-व्यवहार में सदाचार– लोक व्यवहार में देश, काल, स्थिति के अनुसार सदाचार और शिष्टाचार में भिन्नता हो सकती है। फिर भी सदाचार के मौलिक सिद्धान्त समान रूप से सर्वत्र लागू हैं। हमारी भारतीय संस्कृति का आधार सदाचार है। यदि सदाचार के नियम और सिद्धान्त कुछ भी न होते तो आर्यसभ्यता कभी की मिट गयी होती और मानव जंगली जानवरों की भांति जीवन व्यतीत करता। विदेशियों ने हमारी सभ्यता को मिटाने के लिये हर सम्भव उपाय किये, परन्तु वे इसमें सफल न हो सके। यद्यपि आज का कुमार एवं युवक-समाज पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा लेकर आर्यावर्तीय सभ्यता-सदाचार में उपेक्षित बुद्धि रखता है, तथापि उसके प्रबल संस्कारों का उन पर स्थायी प्रभाव है। सत्य को झुठलाया नहीं जा सकता। यही कारण है कि आर्यसभ्यता अनेक विषम परिस्थितियों से गुजरती हुई आज भी जीवित है और संसार का यथेष्ट मार्गदर्शन कर रही है। आर्यों का सदाचार विश्व की उच्च-से-उच्च सेवा के भाव उत्पन्न करता है। लोक-व्यवहार में स्वामी दयानन्दजी की सदाचार की शिक्षाएँ बड़े महत्व की हैं–

जनसाधारण के प्रति– हम दूसरों की सेवा इस भाव से न करें कि बदले में पारितोषिक मिलेगा; अपितु निष्कामभाव से सेवा करें। किसी से भद्दी हँसी-दिल्लगी न करें और न किसी को अपशब्द कहकर जी दुखाएँ। काच, पत्थर, ईंट, काँटा, केले का छिलका आदि पदार्थ जो दूसरों को हानि पहुँचानेवाले हैं, इनमें से कोई भी पदार्थ मार्ग में देखें तो उसे स्वयं हटा दें अथवा किसी से हटवा दें। यदि कोई मार्ग भूल जाय तो अपनी हानि की परवा न कर उसे सही मार्ग बता दें। किसी भी मत अथवा धर्म के प्रवर्तकों का नाम आदर से लें। उन पर आक्षेप न करके धार्मिक एवं राजनैतिक वाद-विवादों से नम्रता, प्रेम और सदाचार से काम लें, अपमान किसी का न करें। किसी की खोयी हुई वस्तु मिल जाय तो उसका पता लगाकर वहाँ पहुँचा दें अथवा ऐसे स्थान पर जमा कर दें, जहाँ से वस्तु के स्वामी को वह मिल जाय। पारस्परिक झगड़ों को धर्मानुसार स्वयं तय करें और यदि दो व्यक्ति झगड़ते हों तो उन्हें भड़काएँ नहीं, अपितु उनमें मेल कराने का यत्न करें। पाप से घृणा करें, पापी से नहीं। उसके साथ प्रेम व सहानुभूति दरसायें। पड़ोसी, मित्र या अपने सम्बन्धी के यहाँ मृत्यु हो जाय तो उसके शोक में सम्मिलित होकर यथासम्भव उसे धैर्य प्रदान कराइये। जहाँ दो से अधिक व्यक्ति बातें करते हों, वहाँ मत जाइये; हो सकता है, वे गुप्त मन्त्रणा करते हों और आपका वहाँ आना वे पसन्द न करें। किसी के पीछे निन्दा न करें। प्रत्येक व्यक्ति में कोई-न-कोई गुण अवश्य होता है, उस व्यक्ति के गुणों की ही चर्चा करनी चाहिये। हाँ, यदि

अपना मित्र अथवा आत्मीय जन हो तो उसके दोषों को प्रेमपूर्वक दूर करने का यत्न करें। जहाँ तक हो सके, अपने से बड़ों की ओर पीठ करके न बैठें और न चलें। दूसरे व्यक्ति की बात जब तक, समाप्त न हो, बीच में न बोलें। यदि भूल से बोल जायँ तो उससे क्षमा माँग लें। बातचीत का सिल-सिला लम्बा न बढ़ाकर सुननेवाले को भी बात करने का अवसर देना चाहिये; अन्यथा सुननेवाला आपकी बात से ऊब जायगा। कथा-व्याख्यान में बीच में न उठें। यदि उठना आवश्यक हो तो प्रसंग की समाप्ति पर उठें, अन्यथा कथावाचक का अपमान समझा जाता है। बिना आवश्यकता के किसी से उसका वेतन, आय वा जाति न पूछें।

स्त्री-सम्बन्धी सदाचार की बातें– परायी स्त्री से यदि कोई बात करनी हो तो नीचे की ओर दृष्टि करके बात करें। स्त्रियों को छूना, उनसे हँस-हँसकर बातें करना, दिल्लगी करना असभ्यता है और सदाचार के विरुद्ध आचरण है। किसी स्त्री को माला पहनानी हो तो उसके हाथ में दे दीजिये, वह स्वयं पहन लेगी। यही बातें स्त्रियों को भी पुरुषों के प्रति ध्यान में रखनी चाहिये। किसी भी असहाय स्त्री पर कोई संकट आ जाय या उसे कोई असुविधा हो तो निःस्वार्थ भाव से उसकी सहायता करें। आयु, विद्या एवं योग्यता के अनुसार स्त्रियों में माता, पुत्री और बहिन का भाव जाग्रत करो और उनका सम्मान कीजिये। किसी के घर जहाँ स्त्रियाँ रहती हों, वहाँ बिना सूचना दिये कभी न जाइये और जहाँ स्त्रियाँ नहाती हों, वहाँ भी मत जाइये। घर अपना हो या पराया, जिस कमरे में कोई स्त्री अकेली बैठी, सोयी या वस्त्र पहनती हो, परदे की शक्ल में हो तो उसे कमरे में सहसा प्रवेश न करें। आवाज देकर या खांसकर अपने आने की सूचना दें।

इस प्रकार लोक-व्यवहार में मर्यादा और शिष्टाचार की रक्षा करना-आर्यसमाज के सदाचार-सिद्धान्तों में परिगृहीत है।

❁❁❁

लोभ का जल गिरेगा तो जल जायेगा।
आग से वासना की झुलस जायेगा।
फूल जैसी है मृदुता संजोये हुए।
क्लेश के कण्टकों में संजाओ नहीं।
स्वार्थ की आँधियों में उड़ा है सदा।
गर्त के छल कपट से गिरा है सदा।
कोरे कागज सा है आदमी का चलन।
काली करनी का धब्बा लगाओ नहीं।

❁❁❁

जीवन को सार्थक बनाएँ

लेखकः महात्मा चैतन्य स्वामी , महर्षि दयानन्द धाम, महादेव, सुन्दरनगर (हि० प्र)

पांच महायज्ञों में से एक है 'ब्रह्म–यज्ञ' अर्थात् परमात्मा की उपासना करना। वास्तव में यदि गहराई से चिन्तन करें तो महर्षि दयानन्द सरस्वती जी द्वारा संकलित सन्ध्या में पूरा अष्टांगयोग है। महर्षि दयानन्दजी ने सन्ध्या के मन्त्रों से पूर्व जो शीर्षक दिए हैं वे अत्यधिक महत्वपूर्ण है तथा उनके अनुसार ही अपने चित्त की स्थिति को बनाकर सन्ध्या करें तो हमें उससे निश्चित ही आध्यात्मिक लाभ प्राप्त होगा। मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य उपासना द्वारा प्रभु का सान्निध्य प्राप्त करना ही है। इसी में जीवन की सार्थकता है अन्यथा जिसके हृदय में प्रभु के प्रति प्रेम एवं समर्पण की भावना नहीं है वह जीवन तो पशुओं के समान ही है। इस सम्बन्ध में कबीर ने भी बहुत ही सुन्दर कहा है–

जा घट प्रेम न संचरे सो घट जान मसान,
जैसे खाल लुहार की सांस लेतु बिन प्राण।

जिसके जीवन में प्रभु–भक्ति नहीं वह तो मानो वास्तव में ही मुर्दे के समान है क्योंकि यदि सांसों के आने–जाने को जी जीवन कहें तो वह तो लुहार की खाल भी वायु लेती है और छोड़ती है। इसलिए व्यक्ति को अन्य कार्य गौण और प्रभु–भक्ति मुख्य समझनी चाहिए। अभाग्य से आज इसके विपरीत हो रहा है। जिसके कारण यह अनमोल मानव–जीवन अकारथ ही चला जा रहा है। सन्ध्या में जब 'मनसा परिक्रमा' के मन्त्रों पर चिन्तन करने के बाद चित्तवृत्तियां प्रभु के ही चिन्तन में समाहित हो जाती है तो साधक को 'उपस्थान' की स्थिति प्राप्त होती है। उस समय वह तामसिक, राजसिक और सात्विक इन तीनों गुणों से ऊपर उठकर जिस स्थिति का साक्षात्कार करता है उसके सम्बन्ध में कहा गया है–

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरूत्तम्॥ –(यजु0 35।14)

अर्थात् वह (तमसः) सत्व, रज और तम रूपी अन्धकारमय प्रकृति से परे हो जाता है, छूट जाता है। उसका सीधा सम्पर्क (उत्तरम्) उत्कृष्ट चेतन जीवात्मा के साथ हो जाता है, उसे प्रंसख्यान की स्थिति प्राप्त हो जाती है, वह प्रकृति और पुरुष के भेद को साफ–साफ अनुभव करता है। सत्य और असत्य तथा विद्या और अविद्या के भेद को समग्रतः जानता है। और फिर उससे भी आगे (ज्योतिरूत्तम्) ज्योति की भी ज्योति उस परमात्मा की अनुभूति को प्राप्त हो जाता है। योग दर्शन के प्रथम पाद के तीसरे सूत्र में कहा गया है–**तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।** वह अपने निज आत्म–स्वरूप में आकर परमात्मा के सान्निध्य को प्राप्त होता है। वास्तव में परमात्मा को कहीं भी खोजने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह तो सर्वव्यापक है। साधना तो स्वयं को होता है, अपनी पहचान होने पर ही प्रभु का सान्निध्य स्वतः प्राप्त हो जाता है। व्यक्ति इस स्थिति को कैसे प्राप्त करे इसका संकेत अगले मन्त्र में इस प्रकार मिलता है–

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरोऽअर्थमेतम्।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन।। -(यजु0 35। 15)

इस मन्त्र में जीवन को सार्थकता प्रदान करने के लिए मुख्यतः पांच महत्वपूर्ण सूत्र दिए गए हैं। सबसे पहले तो (इमम् परिधिम्) व्यक्ति को अपना जीवन मर्यादित करना चाहिए अर्थात् वेद एवं आप्तपुरुषों द्वारा निर्देशित मर्यादाओं का दृढ़ता के साथ अनुपालन करना चाहिए। उसमें किसी प्रकार की भी ढील नहीं देनी चाहिए। यदि हम उपासना के प्रसंग में वेद के इस आदेश को लें तो साधक को सर्वप्रथम यमों का अनुपालन दृढ़तापूर्वक करना अपेक्षित है अन्यथा आगे उपासना में गति कदापि नहीं हो सकती है। यमों की ये मर्यादाएँ ही उसके जीवन को सार्थकता प्रदान कर सकती है। यमों का अनुपालन करना ही साधक की उपासना का प्रबल आधार है।

दूसरी बात कही गई है (एतम् अर्थ) सब कोई अपने पुरुषार्थ से ही धनार्जन का विचार करे, कोई किसी दूसरे के धन की कामना आदि न करे..... वेद में अन्यत्र भी इसी प्रकार का आदेश दिया गया है कि हमें लोभ के वशीभूत होकर किसी दूसरे के धन की कामना नहीं करनी चाहिए। मनु महाराज तो कहते हैं कि जो अधर्म का सहारा लेकर धन कमाता है वह कभी भी आदर्श जीवन को प्राप्त नहीं हो सकता है। आगे कहा गया-(शरदः शतम्) हम सौ वर्ष तक जीने की कामना करें मगर केवल कामना भर करने से कुछ भी प्राप्त होने वाला नहीं है बल्कि हमारा आचार-व्यवहार और दिनचर्या मर्यादित हो। उत्तम खान-पान, व्यायाम, प्राणायाम आदि के द्वारा अपने शरीर को स्वस्थ बनाना चाहिए। शरीर की कभी भी अवहेलना नहीं करनी चाहिए क्योंकि हमारी समस्त क्रियाओं का आधार यह शरीर ही है। हम सौ वर्ष तक जीने की कामना करें। मगर कर्म करते हुए सन्ध्या में भी सौ वर्ष तथा उससे भी अधिक अदीन होकर जीने की कामना की गई है। (पुरुची) हमारी प्रत्येक क्रिया हमारे जीवन को पूर्णता देने वाली हो। गीता में बहुत ही सुन्दर बात कही गई है कि हम स्वयं ही अपने मित्र हैं और स्वयं ही अपने शत्रु भी। यदि हम वेदानुसार अपने जीवन को बनाएंगे तो मानो अपने मित्र हैं और वेद के विपरीत कार्य करेंगे तो स्वयं ही अपने शत्रु बन जाएंगे अर्थात् स्वयं ही स्वयं के लिए दुःख एवं क्लेश पैदा कर लेगें। हमारे कार्य ऐसे होने चाहिए जो हमारा किसी प्रकार से भी विनाश न करें बल्कि सर्वदा विकास ही करें। आगे वेद में और भी उत्तम बात कही गई है। (अन्तः मृत्युम् दधताम्) हम परमात्मा के रूद्र-रूप (न्याय करनेवाले) को तथा मृत्यु को सदा ही स्मरण रखें। हमें इस सिद्धान्त को अपने हृदय में बिठाकर अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए कि परमात्मा की न्याय-व्यवस्था में यदि हम अच्छा कर्म करेंगे तो पुरस्कार मिलेगा और यदि बुरा कर्म करेंगे तो दण्ड मिलेगा। किसी नदी का स्नान कोई गुरू, पीर या पैगम्बर हमें हमारे पाप-कर्मों के दण्ड से मुक्ति नहीं दिला सकता है क्योंकि परमात्मा न्यायकारी है। प्रभु ने हमें कर्म करने में स्वतन्त्र रखा है। मगर उस कर्म का फल प्रभु ने अपने हाथ में रखा है। इसलिए प्रभु के उस रूद्र- रूप को सदा ही अपने सामने रखना चाहिए। जैसे प्रभु के रूद्र-रूप को स्मरण रखना है उसी प्रकार मृत्यु को भी सदा स्मरण रखना है। जो व्यक्ति मृत्यु को स्मरण रखता है वह कभी भी पापकर्म नहीं कर सकता है। मृत्यु को स्मरण रखने का यह भाव लिया जाना अति उत्तम है कि हमें जीवन के जितने भी क्षण मिले हैं इनका उपयोग निरन्तर पुण्य कमाने के लिए कर लें, पता नहीं कब सांसों का आना-जाना समाप्त हो जाए। ❁❁❁

आचरण ही श्रेष्ठता प्रदान करता है

लेखकः गोविन्दमुनि, वेदमन्दिर, मथुरा (उ० प्र०)

अरे सुधारक जगत की मत कर चिन्ता यार, यह मन तेरा जगत है पहले इसे सुधार।।
आचाराद् विच्युतो विप्रो न वेद फलमश्नुते। आचारेण तु संयुक्त सम्पूर्णफल भाग्भवेत्।।
–मनु . 1–109।।

जो सदाचारी है वही धार्मिक है। अतः आचरण को परम धर्म माना है। आचरण ही न वेदफल को प्राप्त नहीं होता, सदाचारी ही वेदफल को प्राप्त होता है। इसी भाव को दर्शाते हुए वेद व्यास योग सूत्र का भाष्य करते हुए दर्शाते हैं। दृग्दर्शन शक्त्योः एकात्मता एवं अस्मिता (योग सूत्र) दृक्शक्ति= जीवात्मा, दर्शन शक्ति= बुद्धि ज्ञान का साधन को एकरूपता जैसी प्रतीति अस्मिता है। जीव और बुद्धि को मिले हुए के समान देखना। अभिमान और अहंकार से अपने को बड़ा समझना इत्यादि व्यवहार को अस्मिता जानना, जब सम्यक् विज्ञान से अभिमान आदि के नाश होने से इसकी निवृत्ति हो जाती है। तब गुणों के ग्रहण करने की रुचि होती है। दृष्टा आत्मा चेतन पदार्थ है और बुद्धि आदि देखने तथा जानने के साधन जड़ प्रकृति से बने हैं। यह दोनों ही अगल–2 पदार्थ हैं। शुद्ध चेतन एवं अपरिणामी आत्मा अशुद्ध राग, द्वेष आदि दोषों का मूल कारण जड़ एवं परिवर्तनशील बुद्धि तत्व एक कैसे हो सकते हैं। अस्मिता को महर्षि व्यास ने विदर्प की परिभाषा में मोह कहा है। अस्मिता नाम अहंकार का है। **"तत्र पुण्यापुण्य कर्माशयः काम लोभ मोह क्रोध प्रभवः"** योग 2–12 पर वेदव्यास भाष्य।। महर्षि व्यास भी पुण्यापुण्य कर्माशय का कारणः काम, लोभ, मोह, क्रोध को ही कहते हैं।

काम– काम से उत्पन्न व्यसन 10 हैं। इनमें बड़े दुर्गुण= मादक द्रव्यों का सेवन, दूसरा जुआ खेलना, तीसरा स्त्रियों का संग, चौथा शिकार खेलना।

क्रोध– क्रोध के व्यसन 8 हैं इनमें बड़े दुर्गुण बिना विचारे अपराध का दण्ड देना, कठोर वचन बोलना, धन आदि का अन्याय में खर्च करना आदि हैं। अतः काम के दुर्गुण मादक पदार्थों का सेवन सब दुर्गुणों की माँ है।

काम का अर्थ– किसी भी इन्द्रिय के अर्थ की विषय की प्रबल वेग से कामना जो व्यक्ति को आतुर कर दे। जब आतुरता आती है तो पवित्र और अपवित्र का ज्ञान, शुभ और अशुभ का ज्ञान, धर्म व अधर्म का ज्ञान, विवेक धुंधला होते–2 लुप्त हो जाता है। यदि उस कामना पूर्ति में कोई बाधा पड़े तो क्रोध उत्पन्न हो जाता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूपी पुरुषार्थ चतुष्टय का 'काम' इसी वाचक अर्थ का वाचक है। न कि मात्र एक इन्द्रिय विशेष का सुख। वह सभी इन्द्रियों के सुखों की प्राप्ति की कामना को इंगित करता है। तीसरे स्थान पर आने वाला काम हमारे पूरे पुरुषार्थ को भी ले डूबता है। और व्यक्ति के धर्म अर्थ मोक्ष

नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि अनियंत्रित काम से पहले शरीर नष्ट होता है। फिर तीनों धर्म, अर्थ, मोक्ष नष्ट हो जाते हैं। वीर्य हमारे खाये हुए भोजन से बनने वाला सातवां धातु है। शरीर में बनने वाले धातु क्रमशः रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य हैं। वीर्य शरीर में ओज का पोषण करते हैं।

1- **नास्ति काम समो व्याधिः** । चा. नीति। 2- **दिवा पश्यति नोलूकः कामो नक्तं न पश्यति। अपूर्वः कोऽपि कामान्धो दिवानक्तं न पश्यति।।** काम का प्रवाह आ जाने पर दिन रात्रि और सूर्योदय का ज्ञान नहीं रहता है। वीरों में वीर शिरोमणि वही है जो काम को जीत ले। काम ने बड़े बड़े ज्ञानियों तथा तपस्वियों को पूर्ण वैराग्य के अभाव के कारण पछाड़ कर धराशायी कर दिया है।

क्रोध- नास्ति कोप समो वह्निः चा. नीतिः 5-12।। क्रोध के समान कोई अग्नि नहीं है। कामात्क्रोधोऽभिजायते-गीता. 2-62।।

क्रोध का प्रभाव- आत्मानमेव नाशयति अनात्मवतां कोपः। चा. नी. 148। असंस्कृत मन वाले अविवेकी लोगों का क्रोध उन्हीं के आत्म कल्याण का विनाशक होता है।

लोभ- ह्यर्थी दोषान् न पश्यति। चा. नी. 6-7।। स्वार्थी मनुष्य दोषों को नहीं देखता है। लोभ, शोक, भय, क्रोध मान वेगान् विधारयेत, नैर्लज्जेष्योति रागाणाम विध्यायांश्च बुद्धिमानः ।। चा. नी.

लोभ, शोक, भय, क्रोध, अहंकार, निर्लज्जता, ईर्ष्या, अतिराग, अभिध्या (दूसरे धन लेने की इच्छा) आदि मानस वेगों को रोकना बुद्धिमत्ता है। अन्यथा मानस रोगों से ग्रस्त रहता है। लोभ से बुद्धि चलायमान हो जाती है। लोभ ही तृष्णा को बढ़ाता है और तृष्णा से दुःखी हुआ मनुष्य इस लोक और परलोक में कष्ट पाता है। अच्छे बड़े-2 शास्त्रों को पढ़ने वाले तथा सुनने वाले, सन्देहों को दूर करने वाले पंडित भी लोभ के वस में हो जाते हैं। तथा दुख भोगते हैं। अतः लोभ से बढ़कर कोई शत्रु नहीं है। यदि मनुष्य में लोभ है तो उसमें किसी दुर्गुण की कमी नहीं रहेगी। लोभ की भावना हमें अति की ओर ले जाती है और अति सर्वत्र बुरी होने से वर्जित कही जाती है। कोई भी लोभी कभी सुखी नहीं हुआ वरन् दुखों में जरूर फंस गया। क्या लोभ की भावना किसी को सुख दे पायी है। काम, क्रोध, लोभ ये तीनों ही मनोविकार आत्मा का हनन करने वाले हैं। आत्मोन्नति के अभिलाषी को ये तीनों त्याग देने चाहिए।

मोह- योग 1-8 में अस्मिता क्लेश को मोह और राग को महामोह के नाम से कहा है। अतः मिथ्याज्ञान का ही एक रूप मोह है। जब तक मिथ्याज्ञान रहता है। तब तक मोह रहता है। मोह इस अज्ञान के कारण उत्पन्न होता है और अहंकार इसका पोषण करता है। बुद्धि के गुणों को आत्मा में आरोपित करना अस्मिता है। जितनी अधिक मेरी वस्तुयें, मेरे पदार्थ मेरा कुटुम्ब आदि होगें उतना ही बड़ा मैं। संसार में इसी प्रवृत्ति के कारण ही सांसारिक पदार्थों, विषयों और सम्बन्धियों के प्रति आसक्ति तथा महामोह उत्पन्न होता है। मेरा शरीर, मेरा मकान, मेरा धन, मेरा परिवार, मेरा नाम, मेरा यश ही इसी मैं की पुष्टि करता है। जितने-2 ये मेरे से दूर होते जाते हैं। उतना-2 मैं घटता जाता हूँ। और अन्त में मानव के पास मेरा शरीर बचता है। और इसी से ये सांसारिक भोगों को भोगता है। शरीर के नष्ट होने पर वर्तमान

जीवन के सभी पदार्थ छिन जाते हैं। और मोह का आधार नष्ट हो जाता है। हमारा यह शरीर अपना नहीं है। क्योंकि इसे जीवन ने अपनी इच्छा से या अपनी पसन्द से नहीं बनाया है यदि ऐसा होता तो संसार में कोई भी अपने अन्दर कुरूप नहीं होता। हमारे अगले जीवन के लिये मिलने वाले शरीर का निर्णय परमात्मा की व्यवस्था में होता है। वहाँ कोई पूछताछ नहीं कोई सुनवाई नहीं कोई प्रार्थना नहीं। जिस संसार में जीव जन्म लेता है वह भी इसने नहीं बनाया फिर भी इसके प्रति आसक्ति होती है। मेरे पन की भावना मोह है। मोह न होतो मन स्थिर रहता है। मोह हमें स्वार्थी बनाता है। अहित करके भी अपना हित चाहता है। जहाँ मोह नहीं वहाँ शोक भी नहीं होता है। मोह ने ही लोभवृत्ति जाग्रति होती है। किसी पदार्थ को पाने की कामना ही लोभ है और उस पाप द्वारा पदार्थ को अपना मानना मोह है वह मोह आसक्ति के कारण होता है।

अहंकार– अभिमानोऽहंकार सांख्य 2–6॥ एकादशपंचतनमात्रं तत्कार्यम् सांख्य 2–17॥

पुरुष शरीर में जिससे अभिमान होता है, वह अहंकार नामक प्रकृति का विकार है। ग्यारह इन्द्रियां पांच तन्मात्रायें उपअहंकार के कार्य हैं। अहंकार के तीन भेद हैं। 1–सात्विक, 2–राजस, 3–तामस। सात्विक अहंकार से मन, राजस से 10 इन्द्रियां, तामस से 5 तन्मात्रायें। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की उत्पत्ति होती है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने सत्यार्थ प्रकाश के नवें समुल्लास में मनुष्य के लिये त्यागने योग्य निम्न दोष गिनाये हैं। सदा तमोगुण– क्रोध, मलिनता, आलस्य, प्रमाद आदि। रजोगुण–ईर्ष्या, द्वेष, काम, अभिमान, विशेष आदि दोषों से अलग होकर सत्य– शान्त प्रकृति, पवित्रता, विद्या, विचार आदि गुणों को धारण करे। अतः रजोगुण तथा तमोगुण व्यक्ति में अहं के कारण ही क्रियाशील होता है।

अतः उपरोक्त काम, क्रोध, मोह अहंकार को अच्छी तरह मनन कर धारण करें। ❁❁❁

पृष्ठ सं. 34 का शेष–

Digest Most Trusted Platinum Award-2008" प्रदान किया।

महाशय धर्मपाल जी ने व्यवसाय को समाज और देश सेवा का आधार बनाकर मानव सेवा के कई महान कीर्तिमान स्थापित किए हैं। इसके लिए महान समाज सुधारक महर्षि दयानन्द सरस्वती की प्रेरक शिक्षाओं को आप एक विशेष सम्बल मानते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में स्कूल और चिकित्सा के क्षेत्र में अस्पतालों के साथ–साथ वृद्धाश्रम, अनाथालय, महिला आश्रम, गौशालाएं, आदिवासी क्षेत्रों में बच्चों के लिए छात्रावास एवं प्रतिभावान बच्चों को आर्थिक सहायता प्रदान करना, विधवा तथा निर्धन बेटियों के विवाह में सहयोग करना यह दर्शाता है कि आपका हर कार्य मानवता के लिए समर्पित है। इन सभी कार्यों को आप आर्यसमाज के माध्यम से गति प्रदान कर रहे हैं। जिसमें सभी परोपकार के कार्यों में महाशय धर्मपाल चैरिटेबल ट्रस्ट एवं महाशय चुन्नीलाल चैरिटेबल ट्रस्ट का अतुलनीय सहयोग अत्यन्त प्रशंसनीय एवं प्रेरणाप्रद है।

९६ वर्षीय पद्मभूषण महाशय धर्मपाल जी
संक्षिप्त जीवन परिचय

विश्व प्रसिद्ध महाशियां दी हट्टी (एम. डी .एच. कम्पनी) के चेयरमैन, आर्य केन्द्रीय सभा के प्रधान, कई अन्य संस्थाओं के अध्यक्ष एवं संरक्षक 96 वर्षीय पद्मभूषण विभूषित महाशय धर्मपाल जी एक सुप्रसिद्ध उद्योगपति एवं महान समाजसेवी हैं। आपका जन्म **27 मार्च, 1923** को सियालकोट वर्तमान पाकिस्तान में एक सुसम्पन्न परिवार में हुआ। आपने अपनी आरम्भिक शिक्षा स्थानीय आर्य स्कूल में प्राप्त की तथा कक्षा पांच तक पढ़ने के बाद आप अपने मसालों के पारिवारिक व्यापार से जुड़ गए। मसालों के व्यापार के साथ-साथ आपने हाथ के कई कामों को भी सीखना आरम्भ कर दिया था। 1947 में भारत विभाजन के कारण आप अपनी जन्मभूमि को छोड़कर परिवार सहित खाली हाथ भारत आ गए। सियालकोट से पहले अमृतसर फिर दिल्ली के करोलबाग में आपने छोटे-मोटे कार्यों से नए जीवन की शुरूआत की। इसी दौरान आपने तांगा खरीदा और उसे स्वयं चलाकर कुछ दिन अपने परिवार की जीविका चलाई। किन्तु शीघ्र ही आपने अपने मसालों के पुराने व्यापार का कार्य आरम्भ किया। दृढ़ इच्छाशक्ति, निरन्तर किया गय प्रयास तथा कड़ी मेहनत के बल पर आपने **एम. डी. एच. कम्पनी** को शिखर तक पहुंचाने का संकल्प साकार कर दिखाया।

महाशय जी की आयु से 4 वर्ष बड़ी विश्व व्यापक एम. डी. एच. कम्पनी ने अनेक संघर्षों की खाई पार करते हुए सफलता की अद्‌भुत गौरवगाथा प्रस्तुत की है तथा आपकी कड़ी मेहनत और ईमानदारी के बल पर कम्पनी ने आपके **96वें जन्मोत्सव से पूर्व 8 मार्च 2019 को सफल शतकीय पारी पूरी की है।** इस अभूतपूर्व सफलता के लिए महाशय जी की ओर से देश और विदेशों में बसे एम. डी. एच. परिवार के विशाल समूह के हर सदस्य को तथा समस्त देशवासियों को लाख-लाख बधाई और मंगलमय शुभकामनाएं।

महाशय जी ने अपने सुदीर्घ जीवन में जहां एक तरफ एम. डी. एच. कम्पनी के द्वारा व्यापार की बुलन्दियों को छुआ है, वहीं राष्ट्रसेवा एवं मानवनिर्माण के भी विभिन्न आयामों को स्थापित कर एक अद्‌भुत प्रेरक मिसाल कायम की है। प्राचीन काल में भारत के मसालों को औषधीय गुणों एवं शुद्धता के कारण जो विश्व में सम्मान प्राप्त था उसे पुनः विश्व स्तर पर स्थापित करने में महाशय जी ने अपार सफलता अर्जित की है। महाशय जी के द्वारा संचालित सेवा कार्यों और एम. डी. एच. कम्पनी के मसालों के माध्यम से भारतभूमि का गौरव बढ़ा है। इस तथ्य को स्वीकारते हुए भारत सरकार ने महाशय जी को 26 जनवरी 2019 को 70वें गणतंत्र दिवस के अवसर पर **'पद्मभूषण सम्मान'** प्रदान किया है। इससे पूर्व उन्हें भारत सरकार का **"ITID Quality Excellence"** प्रदान किया गया। यूरोप में मसालों की शुद्धता के लिए **"Arch of Europe"** प्रदान किया गया। कनार्टक के राज्यपाल ने उन्हें **"Reader**

को भी सहजता से सहन कर गये और पूर्ण आस्तिकभाव से ईश्वरार्पित भाव लिये आश्रम समाज के कार्य में अनवरत रहे। महर्षि दयानन्द महाराज के सत्यार्थ प्रकाश की ये पंक्तियां कि ईश्वर के सच्चे उपासक का आत्मबल इतना बढ़ जाता है कि पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरायेगा और सबको सहन कर सकेगा। यह छोटी बात नहीं है सचमुच महर्षि के यह शब्द मैंने पूज्य आचार्य श्री के जीवन में साक्षात् देखे। वे सच्चे ईश्वर के उपासक थे।

पूज्य आचार्य जी की दिनचर्या पूर्ण रीति से वैदिक व्यवस्था के अनुसार रहती थी। मैंने उनके पंच महायज्ञों में कभी व्यवधान नहीं देखा। ब्रह्मयज्ञ, संध्या में जब बैठते थे तब जितने लोग भी उनके साथ सन्ध्या करते थे सभी उनके साथ तन्मय हो जाते थे जिसमें कभी औपचारिकता नहीं होती थी। लोग कभी-कभी दिखाने के लिए सन्ध्या आदि में खाना पूर्ति करते हैं पूज्य आचार्य जी की सन्ध्या पूरी मनोयोग से होती थी उसके बाद भक्तिमय स्वर गाया गया गीत कि **सन्ध्या से मैंने महानन्द पाया, सन्ध्या से मन का तपनपन मिटाया।** सभी लोगों को आत्म विभोर कर देता था उसके बाद देवयज्ञ में उनकी श्रद्धा देखते ही बनती थी। सचमुच उनके भावपूर्ण देवयज्ञ को देखकर ऋषियों का युग साक्षात् सामने उतर आता था। उन्हें देखकर विश्वामित्र, वशिष्ट जैसे महर्षियों का मानस चित्र सामने प्रत्यक्ष होता था। अतिथि सत्कार भी उनका बेजोड़ होता था वे सबका सम्मान स्वागत जिस आत्मीयता से करते थे आने वाला आत्म तृप्त होकर जाता था। जो अतिथि एकबार उनसे मिल लेता था उसकी इच्छा बार-बार उनके पास आने की होती थी। भोजन से पहले बलिवैश्व यज्ञ करना कभी न भूलते थे। कहने का तात्पर्य यह है जो भी ऋषियों ने नियम बनाये उनका अक्षरशः पालन करने वाला हमने आचार्य जी के सदृश कोई भी नहीं देखा, इसीलिए जीवन निर्माण का कार्य वे बड़ी ही निपुणता से करते थे। वे अपने व्याख्यानों में चरित्र निर्माण पर बहुत ध्यान देते थे। अपने कार्यक्रमों कार्यकर्त्ताओं की संगोष्ठी लेना कभी नहीं भूलते थे और व्यक्तिगत जीवन के बारे में अवश्य पूछते थे यदि कोई वैदिक मर्यादा के अनुसार अपना जीवन नहीं बिताता था तो उसको व्रत दिलवाया करते थे वे बड़े ही बल से कहा करते थे। जब तक हम अपने जीवन में सुधरने का व्रत नहीं लेते तब तक परिवर्तन आना दुर्लभ है। वे कहते थे व्रती आर्य अर्थात् जिसके जीवन में व्रतशीलता हो वही आर्य है और जिसके जीवन में व्रत नहीं वह दस्यु है। व्यवस्था को छिन्न भिन्न करने वाला है। जिसका अपना जीवन व्यवस्थित नहीं है वह दूसरों का जीवन व्यवस्थित क्या करेगा। वह तो समाज में अव्यवस्था ही फैलायेगा अशान्ति का कारण ही बनेगा। इन्हीं वैदिक संस्कृति के मूलभूत तत्वों को लेकर वे आजीवन चले और न जाने कितनों को चला कर उनके जीवन को धन्य कर गये। आज उनकी पुण्य स्मृति में उनकी पुण्यतिथि हम सब उनके द्वारा उपकृत होकर भावपूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित कर रहे हैं।

❋❋❋

'तपोभूमि' अप्रैल 2019 R.N.I. No. 2321/57 रजि. सं. MTR नं. 004/2019-21

सत्य प्रकाशन मथुरा के अनमोल प्रकाशन

शुद्ध रामायण (सजिल्द)	220.00	भ्रांति दर्शन	20.00	गायत्री गौरव	5.00
शुद्ध रामायण (अजिल्द)	170.00	शान्ता	20.00	महर्षि दयानन्द की मान्यतायें	5.00
शंकर सर्वस्व	120.00	संध्या रहस्य	20.00	सफल व्यक्तित्व	5.00
मानस पीयूष (रामचरित मानस)	100.00	गीता तत्व दर्शन	20.00	जीजा साले की बातें	5.00
शुद्ध कृष्णायण	80.00	गृहस्थ जीवन रहस्य	20.00	विषपान और अमृत दान	5.00
विदुर नीति	40.00	श्रीमद् भगवत गीता	20.00	पंचाग के गुलाम	5.00
वैदिक स्वर्ग की झांकियाँ	40.00	दयानन्द और विवेकानन्द	15.00	सर्वश्रेष्ठ कहानियां (प्रेस में)	
चाणक्य नीति	40.00	इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठ	12.00	नमस्ते ही क्यों	10.00
महाभारत के प्रेरक प्रसंग	40.00	बाल मनुस्मृति	12.00	महिला गीतांजलि	15.00
नित्य कर्म विधि	32.00	ओंकार उपासना	12.00	पुराणों के कृष्ण	12.00
वेद प्रभा	30.00	आर्यों की दिनचर्या	12.00	भागवत के नमकीन चुटकुले	8.00
शान्ति कथा	30.00	शुद्ध सत्यनारायण कथा	15.00	आदर्श पत्नी	10.00
भारत और मूर्ति पूजा	30.00	दादी पोती की बातें	10.00	मानव तू मानव बन	8.00
यज्ञमय जीवन	30.00	दण्डी जी का जीवन पथ	10.00	ऋषि गाथा	4.00
दो बहिनों की बातें	30.00	क्या भूत होते हैं (प्रेस में)		सर्प विष उपचार	4.00
दो मित्रों की बातें	30.00	महाभारत के कृष्ण	15.00	चूहे की कहानी	4.00
संगीत रत्नाकर प्रथम भाग	25.00	ब्रजभूमि और कृष्ण	8.00	उपासना के लाभ	4.00
चार मित्रों की बातें	20.00	सच्चे गुच्छे	8.00	भगवान के एजेन्ट	3.00
भारतीय संस्कृति के तीन प्रतीक	20.00	मृतक भोज और श्राद्ध तर्पण	8.00	दयानन्द की दया	3.00
मील का पत्थर	20.00	वृक्षों में जीव है या नहीं	5.00	शांति पथ	2.00

आवश्यक सूचना

1. पाठकगण वर्ष 2019 के लिये वार्षिक शुल्क 150/- रूपये अविलम्ब भिजवायें तथा पन्द्रह वर्ष की सदस्यता हेतु 1500/- भिजवायें।
2. पत्रिका भेजने की तारीख प्रतिमाह 7 व 14 है, कृपया ध्यान रखें।

बुक-पोस्ट
छपी पुस्तक/पुस्तिका

पिन कोड

पत्र व्यवहार का पता :-
व्यवस्थापक - कन्हैयालाल आर्य
सत्य प्रकाशन
डाकघर- गायत्री तपोभूमि, वृन्दावन मार्ग
(आचार्य प्रेमभिक्षु मार्ग), मसानी चौराहे के पास,
मथुरा (उ० प्र०) 281003
फोन (0565) 2406431
मोबा. 9759804182

मुद्रक : स्वामी, प्रकाशक, सम्पादक आचार्य स्वदेश के लिए मित्तल कम्प्यूटर प्रिंटर्स, वृन्दावन रोड, मथुरा में छपकर सत्य प्रकाशन मथुरा से प्रकाशित